

## परिशिष्ट—६

### दक्षिण के स्थान

**पुरी**—पूर्वी रेलवे की हावड़ा वाल्टेयर लाइन पर कटक से २६ मील दूर खुरदा-रोड स्टेशन है। वहां से पुरी तक एक लाइन जाती है। खुरदा-रोड वहां से २८ मील है। आसनसोल, हावड़ा, मद्रास तथा तलचर से पुरी के लिए सीधी ट्रेनें जाती हैं। कटक, भुवनेश्वर, खुरदा रोड से मोटरें भी जाती हैं। ठहरने के लिए अनेक धर्मशालायें एवं मठ हैं। पुरी में आठ पवित्र जलतीर्थ हैं।

**जगन्नाथ मन्दिर**—पुरी स्टेशन से मन्दिर एक मील है। मन्दिर से सीधा मार्ग समुद्र तट गया है। स्नान का स्थान स्वर्गद्वार कहाता है। मन्दिर बहुत विशाल है। मन्दिर दो परकोटों में है। चारों ओर चार महाद्वार हैं। सबसे ऊंचा विमान या श्रीमन्दिर है। इसी में मूर्ति स्थित है। सामने जगमोहन है। पीछे मुखशाला नाम का मन्दिर है। आगे भोग-मण्डप है। पूर्व में सिंह द्वार, दक्षिण में अश्व द्वार, पश्चिम में व्याघ्र द्वार, उत्तर में हस्तिद्वार है। दर्शन सब ही के लिये सुलभ है।

आगे एक छोटे मन्दिर में विश्वनाथ लिंग है। २५ सीढ़ी चढ़कर दूसरे प्राकार में जाया जाता है। दोनों ओर प्रसाद के बाजार हैं। अनेक मन्दिर हैं। द्वार के सामने मुक्तिमण्डप है। इसे 'ब्रह्मा आसन' कहते हैं। पूर्वकाल में यज्ञ में ब्रह्मा जी ब्रह्मा बनकर विराजमान होते थे। मुक्ति मण्डप में आज भी स्थानीय विद्वान् ब्राह्मण यज्ञ करते-कराते हैं।

सरस्वती मन्दिर,

लक्ष्मी मन्दिर,

सूर्य मन्दिर,

पातालेश्वर महादेव मन्दिर

वैकुण्ठ द्वार के पास वैकुण्ठेश्वर महादेव का मन्दिर है।

कलेवर बदलने पर पुराने जगन्नाथ जी को यहाँ समाधि दी जाती है।

**धनुष्कोटि**— अनेक मन्दिर, अनेक कथाएँ हैं। मद्रास से धनुष्कोटि तक सीधी लाइन है। रामेश्वर से 'रामेश्वरम् रोड' स्टेशन लगभग ३ मील है। रेल जाती है। मीठे जल का अभाव है। समुद्र किनारे छाया नहीं। धर्मशाला स्टेशन के पास है। मछलियों की बू आती है। यहाँ ठहरते नहीं, रामेश्वर चले जाते हैं। श्री लंका के लिये जहाज जाता है। रेल के डब्बे जहाज पर चढ़ा दिये जाते हैं। चार घण्टे में लंका पहुँच जाते हैं। समुद्र के मध्य में धनुष्कोटि द्वीप का अन्तिम छोर है। बंगाल की खाड़ी और महोदधि का यहाँ संगम है। श्राद्ध भी होता है। स्वर्ण के धनुष का दान भी किया जाता है। एक ही दिन में ३६ स्नान करने की यहाँ विधि है। तट से आध मील पर राममन्दिर है। श्री राम, लक्ष्मण, जानकी की मूर्तियाँ हैं। हनुमान आदि की अनेक मूर्तियाँ हैं।

**त्रिचना पल्ली**— दक्षिण की लाइनों का केन्द्र है। म्युनिसिपल चोल्ट्री में किराया देकर ठहर सकते हैं। खेमराज श्री कृष्ण दास की धर्मशाला भी गणेश मन्दिर के पास है। २३५ फुट ऊँची नन्दी की आकृति की विशाल चट्टान नगर के मध्य है। नीचे से ऊपर तक एक ओर मन्दिर बने हैं। इसे कैलास का खण्ड बताया जाता है। दक्षिण कैलास कहता है।

**मदुरा**—त्रिचनापल्ली तृतीकोरिन लाइन पर त्रिचना पल्ली से ६६ मील दूर मदुरा (मधुरै) नगर है यहाँ भी और काँचीमें भी भारतीय शिल्प कला का अद्भुत कौशल दिखाई पड़ता है। पत्थर कोट कर ऐसी शृंखला बनाई है जिसको कड़ियाँ घूम सकती हैं। चान्दी से मड़ी नन्दी की विशाल मूर्ति है। २०८ सीढ़ियाँ चढ़ने पर गणेश जी का मन्दिर है। सीढ़ियाँ चट्टान में काटी गई हैं। ऊपर गणेश जी की भव्य मूर्ति है।

**रामेश्वरम्**— मद्रास से धनुष्कोटि तक दक्षिण रेलवे की सीधी लाइन है। इस लाइन पर पाम्बन् स्टेशन से एक लाइन रामेश्वरम् तक जाती है। कुछ डब्बे सीधे जाते हैं। मदुरा से आने वाले 'माना मदुरै' में गाड़ी बदलें। मद्रास धनुष्कोटि लाइन लें। पण्डों के सेबक यात्रियों को घेर लेते हैं। उनके ठहरने की पर्याप्त सुविधा है। धर्म शालायें भी पर्याप्त हैं। यहाँ हिन्दी समझी जाती है।

रामेश्वर दक्षिण दिशा का धाम है। समुद्री द्वीप में स्थित है। समुद्र के संकीर्ण भाग पर पाम्बन स्टेशन के पास पुल है। जहाजों के आने-जाने पर उठा दिया जाता है। रामेश्वर द्वीप ११ मील लम्बा और ७ मील चौड़ा है। राम ने इस की स्थापना की, ऐसी बहुतों की मान्यता है। यहाँ

ठहर कर पुल बनवाया था। चौड़ाई देवी पत्तन से दर्भशयन तक थी। सेतुमूल कहलाता है। नाना तीर्थ हैं। राम, सीता, लक्ष्मण, हनुमान्, सुग्रीव, विभीषण, जाम्बवान् अंगद आदि की मूर्तियाँ हैं। राजा सेतुपति के परिवार के लोगों की मूर्तियाँ भी एक स्तम्भ में बनी हैं। सामने स्वर्ण-मण्डित स्तम्भ है। अनेक तीर्थ हैं। आंगन विस्तृत है। मन्दिर के सामने सभा मण्डप है।

एक बहुत सुन्दर स्फटिक-लिंग है। प्रातः ४ ॥ से ५ तक दर्शन होते हैं। मन्दिरों, तीर्थों की पूजा-स्नान विधि बड़ी विस्तृत है।

लंका— धनुष्कोटि स्टेशन से रेल के दो डिब्बे जहाज पर चढ़ा दिये जाते हैं। जहाज तैल मनार (बन्दरगाह) पर पहुँचता है। डिब्बे वहाँ गाड़ी में जोड़ दिये जाते हैं। पाम्बन स्टेशन पर जाने का अनुमति-पत्र लेना होता है यह लंका रामायण वाली नहीं, यद्यपि अशोक वाटिका आदि सब बना लिये गये हैं। सिंहल, लंका दो हैं। गाड़ी में कोलम्बो जाते हैं। वहाँ श्री राम मन्दिर है। हिन्दू यात्री ठहर सकते हैं।

कैण्डी— कोलम्बो से यहाँ तक गाड़ी जाती है। कैण्डी में भगवान् बुद्ध का प्रसिद्ध मन्दिर है।

कन्या कुमारी— छोटे नारायण से कन्या कुमारी लगभग ५२ मील है। कन्याकुमारी एक अन्तरीप है। भारत की अन्तिम दक्षिण सीमा है। एक ओर बंगाल की खाड़ी, दूसरी ओर अरब सागर है। सामने हिन्द महा सागर है। यहाँ सरकारी धर्मशाला है। तीन दिन रह सकते हैं। भोजन बनाने के बरतन भी मिलते हैं। तीनों समुद्रों का संगम पवित्र तीर्थ है। स्नान के लिये समुद्र में सुरक्षित घेरा बना है। महिलाओं के वस्त्र परिवर्तनार्थ एक ओर कमरे भी बने हैं। चैत्र पूर्णिमा का समुद्र का दृश्य अद्भुत होता है। दूसरे दिन बंगाल की खाड़ी में अपूर्व दृश्य होता है।

समुद्र में सावित्री, गायत्री, सरस्वती, कन्या विनायक आदि तीर्थ है।

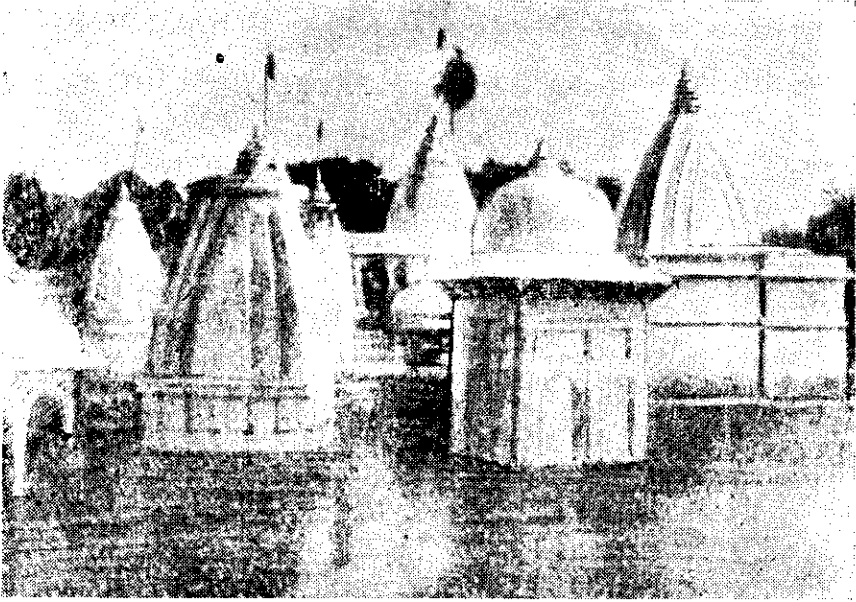
## परिशिष्ट—७

योगी ने जहाँ जहाँ यात्रा की उन स्थानों की ऊँचाई

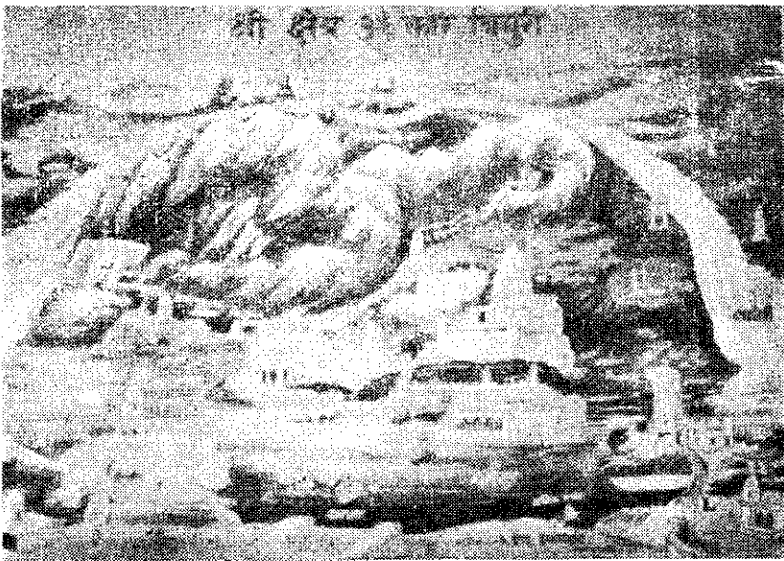
	ऊँचाई	दूरी	
हरिद्वार	६२४ फुट	०	हरिद्वार से
ऋषिकेश	१११६ "	१५	"
टिहरी	२२७८ "	४१	"
श्रीनगर	१७०७ "	६६	"
अमरनाथ	११००० "		श्रीनगर से
लेह	१२००० लगभग		"
रुद्रप्रयाग	१२०००	८८ मील	ऋषिकेश से
अगस्त्यमुनि	३०००	१०० "	"
गुप्त काशी	४८५०	११२ "	"
केदारनाथ	११७५३	११६ "	"
ऊखीमठ	४३००	२६ "	केदार से
तुंगनाथ	१२०७२	४१ "	"
बद्रीनाथ	१०२४४	८७ मील	केदार से
माणा	१०५६०	६० "	"
वसुधारा	१५१२०	६३ "	"
४०० फीट ऊँचाई से गिरती है ।			
सतोपथ	१४०००	१०६ "	"
अलकापुरी	१५०००	१२३ "	"
नीतीघाटी	११५००	४३ "	जोशी मठ से
कैलाश	२२०२०	×	
मानसरोवर	१४६००	×	
राक्षसताल	"	×	

इतनी ऊँचाई पर योगीराज दयानन्द योग सामर्थ्य से केवल एक कटिवस्त्र में घूमते रहे !!! नंगे पैर !!! अनुमान होता है १५००० और २०००० फुट की ऊँचाई पर पैदल यात्रा की है । ६० मील तक की यात्रा एक दिन में बर्फ़ीले पहाड़ों की है ।

❀ योगी का आत्म-चरित्र ❀



अमरकण्टक : नर्मदा के उद्गम पर कोटि तोर्थ (पृष्ठ ४४)



श्री ओंकारेश्वर  
बाईं ओर कावेरी तथा दक्षिण की ओर नर्मदा के मध्य स्थित है। (पृष्ठ ४५)

❀ योगी का आत्म-चरित्र ❀



कपिल धारा प्रपात  
अमर कन्टक के परिसर में  
(पृष्ठ ४३)

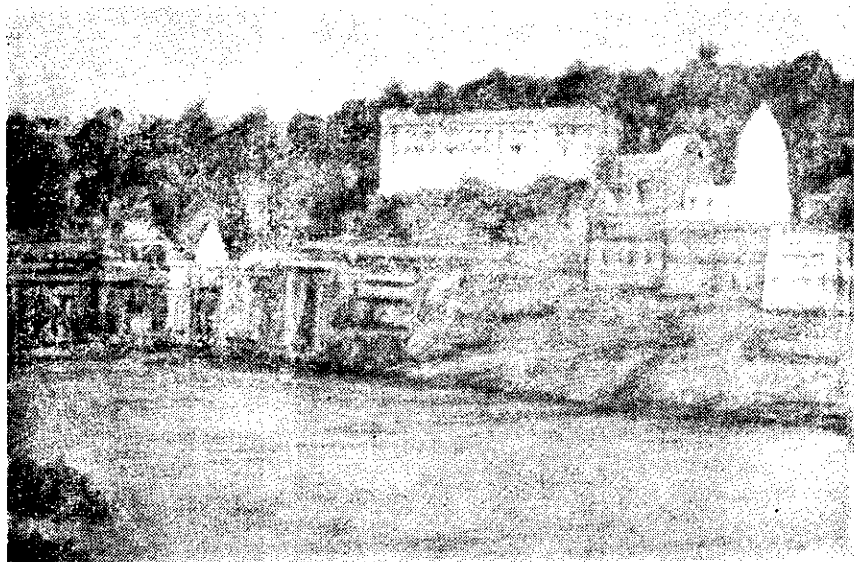
❀ योगी का आत्म-चरित्र ❀

## भेड़ा घाट



संगमरमर की चट्टानों में नर्मदा का प्रवाह  
(पृष्ठ ४४)

❁ योगी का आत्म-चरित्र ❁



शिवपुरी : ओंकारेश्वर

(पृष्ठ ४५)



माहिष्मती : सहस्रधारा की दिव्य सुपमा

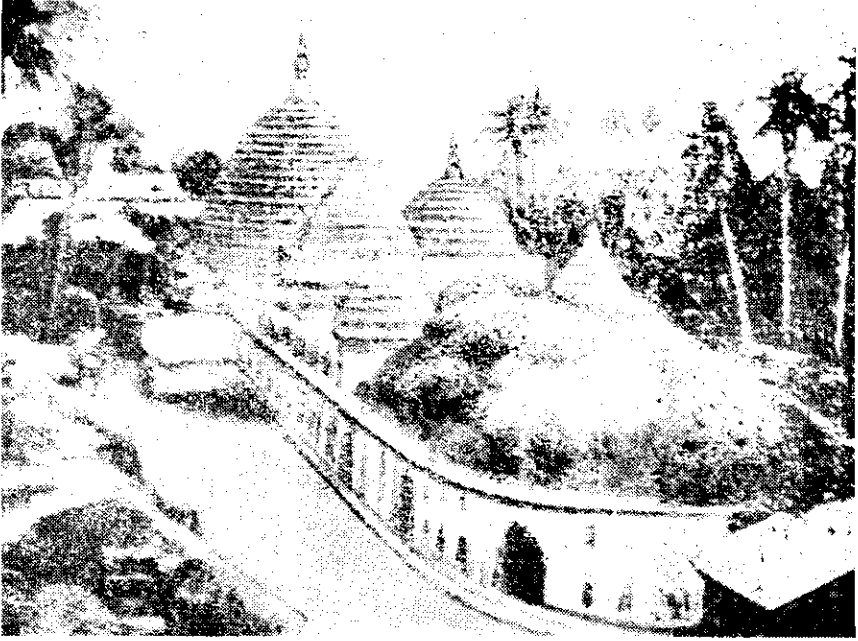
❀ योगी का आत्म-चरित्र ❀



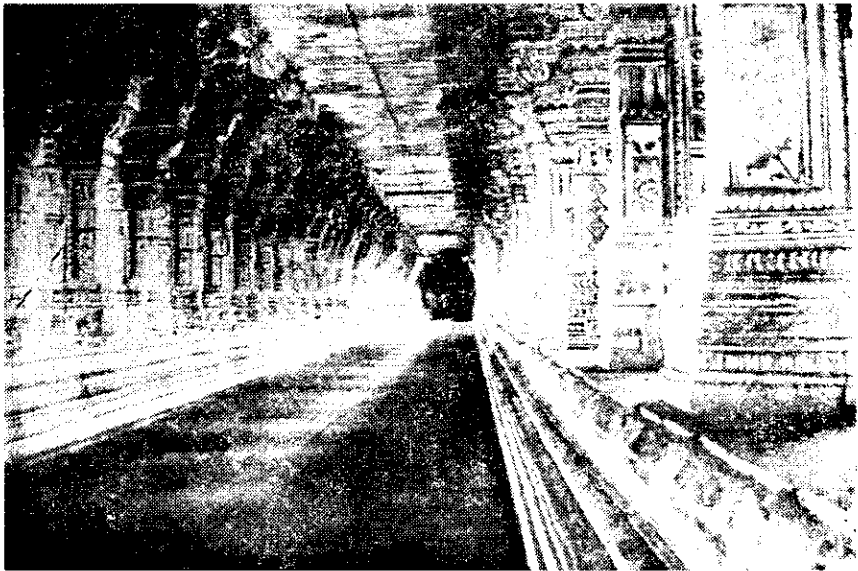
माहिष्मती श्री अहिल्येश्वर मन्दिर  
यहां ही शंकराचार्य और मण्डन मिश्र का शास्त्रार्थ हुआ ।

(पृष्ठ ४६)

❁ योगी का आत्म-चरित्र ❁

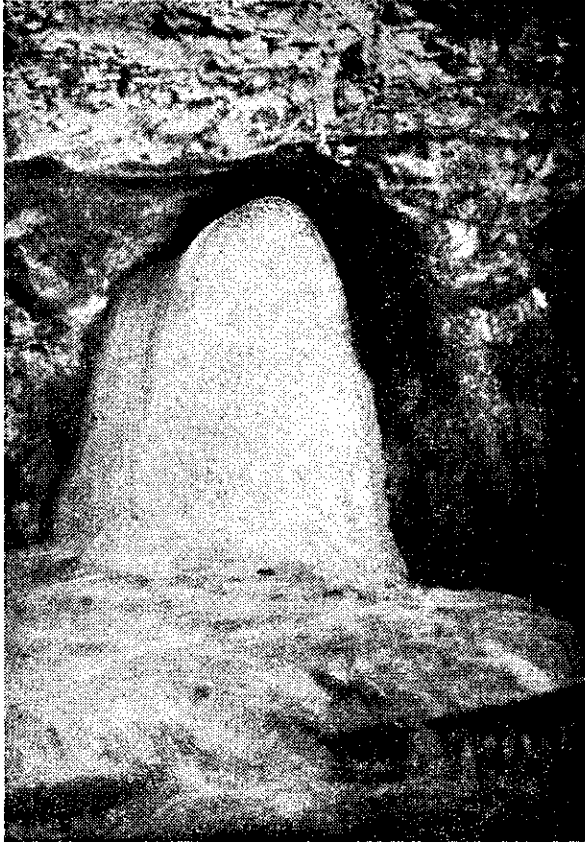


कामाख्या मन्दिर, गोहाटी



श्री रामेश्वरम् : भारत की दक्षिण सीमा के छोर पर स्थित

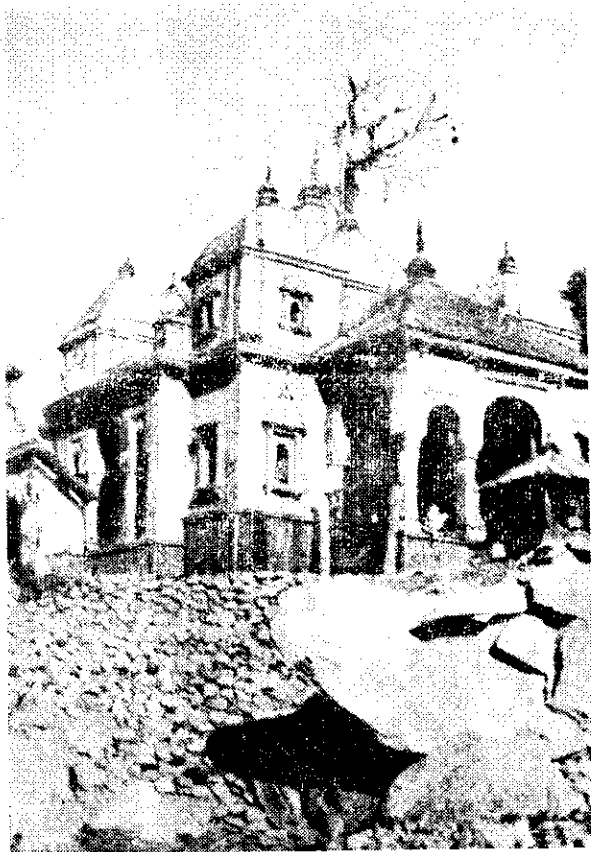
❁ योगी का आत्म-चरित्र ❁



अमरनाथ  
काश्मीर की तीर्थ गुफा में बर्फ का शिवलिंग  
(पृष्ठ २०८)

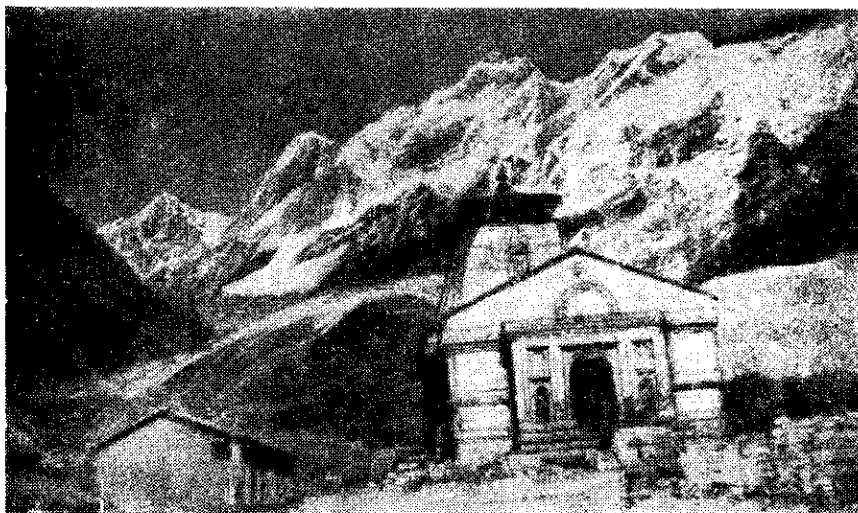
ॐ योगी का आत्म-चरित्र ॐ

## गंगोत्री मन्दिर



गंगा के उद्गम गोमुख से १२ मील पहले  
(पृष्ठ २२१)

❁ योगी का आत्म-चरित्र ❁



श्री केदारनाथ मन्दिर, जिस के परिसर शिवपुरी में योगिराज दयानन्द  
ने शीत बिताया । (पृष्ठ २२१)



जोशी मठ, शंकराचार्य के चार धामों में से एक (पृष्ठ २२१)

❀ योगी का आत्म-चरित्र ❀



श्री बद्रीनाथ, जहां से योगीराज दयानन्द ने अलकनन्दा स्रोत की यात्रा की । पृष्ठ २२१



अलकनन्दा का उद्गम, जिसे देख एक वसनधारी योगीराज १२ घंटे में लौटे । यह हिम यात्रा पूरे तम्बू, सेवक, कुली, सामग्री के साथ साधारणतया एक मास में कोई माई का लाल ही कर पाता है । (पृष्ठ २२२)

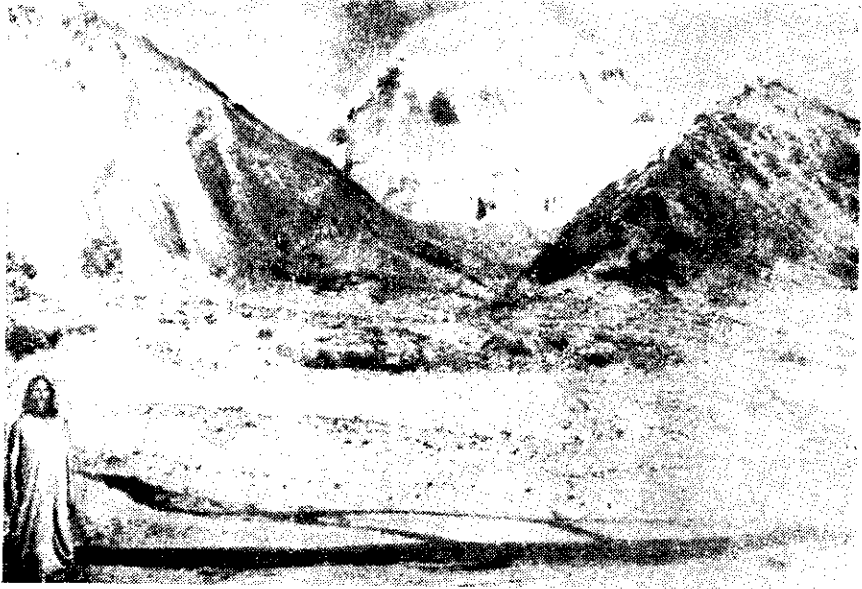
ॐ योगी का आत्म-चरित्र ॐ

## बसु धारा



श्री बद्री नारायण से केवल ५ मील पूरे सामान के  
साथ पूरे एक दिन की यात्रा  
(पृष्ठ २२२)

❁ योगी का आत्म-चरित्र ❁



कैलाशाधिपति महादेव योगीश्वर की तपोभूमि कैलाश (पृष्ठ २२२)



तरङ्गित राक्षस ताल : पृष्ठभूमि में मानधाता पर्वत है । (पृष्ठ २२२)

## उपदेश मञ्जरी (पूना प्रवचनों) में

### स्वयं कथित जीवन चरित्र

**पन्द्रहवाँ व्याख्यान (२८ जून १८७५ से २५ जुलाई के मध्य)**

हमसे बहुत से लोग पूछते हैं कि हम कैसे जानें कि आप ब्राह्मण हैं और कहते हैं कि आप अपने मित्रों तथा सम्बन्धियों कि चिट्ठियाँ मंगा दें या आपको जो पहचानता हो, उसको बतलावें।

दूसरे देशों की अपेक्षा गुजरात में कुछ मोह अधिक है, यदि मैं अपने पूर्व मित्रों तथा सम्बन्धियों को अपना पता दूँ या पत्र-व्यवहार करूँ तो मेरे पीछे एक ऐसी व्याधि लग जावेगी, जिससे कि मैं छूट चुका हूँ। इस भय से कि कहीं वह बला मेरे पीछे न लग जावे, मैं पत्रादि मंगा देने की चेष्टा नहीं करता।

इसलिए मैं अपना कुछ वृत्तान्त कहता हूँ। धरांगधरा नामक राज्य गुजरात देश में है। इसकी सीमा पर एक मौरवी नगर है, वहाँ मेरा जन्म हुआ था। मैं औदीच्य ब्राह्मण हूँ। औदीच्य ब्राह्मण सामवेदी होते हैं, परन्तु मैंने यजुर्वेद पढ़ा था। मेरे घर में अच्छी जमींदारी है। इस समय मेरी अवस्था ५० वर्ष की होगी।

आठवें वर्ष मेरे बाद एक बहन पैदा हुई थी। मेरा एक चचेरा दादा था, वह मुझसे बहुत ही प्यार करता था। मेरे कुटुम्बियों के इस समय १५ घर होंगे। मुझको लड़कपन में ही रुद्राध्याय सिखलाकर शुक्ल यजुर्वेद का पढ़ाना आरम्भ कर दिया था। मेरे पिता ने मुझको शिव की पूजा में लगा दिया। दशवें वर्ष से पार्थिव (मिट्टी के महादेव) की पूजा करने लग गया था।

मुझे पिता ने शिवरात्रि का व्रत रखने को कहा था, परन्तु मैंने शिवरात्रि का व्रत न किया। तब शिवरात्रि की कथा मुझे सुनाई, वह कथा

---

ऊँचहाँ अर्थात् देश में। स०

मेरे मन को बहुत मीठी लगी और मैंने उपवास रखने का पक्का निश्चय कर लिया। मेरी मां कहती थी कि उपवास मत कर, मैंने माता का कहना न मानकर उपवास किया। मेरे यहाँ नगर के बाहर एक देवल है। वहाँ शिवरात्रि के दिन रात के समय बहुत लोग एकत्रित होते हैं और पूजा करते हैं। मेरे पिता, मैं और बहुत मनुष्य इकट्ठे थे। पहिले पहर की पूजा कर ली, दूसरे पहर की पूजा भी हो गई। अब बारह बजे गए और धीरे-धीरे आलस्य के कारण लोग जहाँ के तहाँ झुकने लगे। मेरे पिता को भी निद्रा आ गई। इतने में पुजारी बाहर गया। मैं इस भय से न सोया कि कहीं मेरा उपवास निष्फल न हो जाय।

इतने में यह चमत्कार हुआ कि मन्दिर में बिल से चूहे बाहर निकले और महादेव की पिण्डी के चारों तरफ फिरने लगे। पिण्डी पर जो चावल चढ़ाये हुए थे, उन्हें ऊपर चढ़कर खाने भी लगे। मैं जागता था, इसलिए यह सब कौतुक देख रहा था। इससे एक दिन पहले शिवरात्रि की कथा मैं सुन ही चुका था। उसमें शिव के भयानक गणों, उसके पाशुपत अस्त्र, बैल की सवारी और उसके आश्चर्यमय सामर्थ्य के विषय में बहुत कुछ सुन चुका था। इसलिए चूहों के इस खेल को देखकर मेरी लड़कपन बुद्धि आश्चर्य में पड़ गई और मैंने सोचा कि जो शिव अपने पाशुपत अस्त्र से बड़े-बड़े दैत्यों को मारता है, क्या वह ऐसे तुच्छ चूहों को भी अपने ऊपर से नहीं हटा सकता। इस प्रकार की बहुत-सी शंकायें मेरे मन में उठने लगीं।

मैंने पिताजी को जगाकर पूछा कि महादेव इस छोटे से चूहे को नहीं हटा देते। पिताजी ने कहा कि तेरी बुद्धि बड़ी भ्रष्ट है, यह तो केवल देवता की मूर्ति है। तब मैंने निश्चय किया कि जब मैं इसी त्रिशूलधारी शिव को प्रत्यक्ष देखूंगा, तब ही पूजा करूंगा, अन्यथा नहीं। ऐसा निश्चय करके मैं घर को गया, भूख लगी थी माता से खाने को माँगा। माता कहने लगी, 'मैं तुमसे पहले ही कहती थी कि तुमसे भूखा नहीं रहा जायगा। तूने ही हठ करके उपवास किया।' माँ ने फिर मुझे खाना दिया और कहा कि दो दिन तू उनके अर्थात् पिताजी के पास मत जाना और न उनसे बोलना, नहीं तो मार खायगा, खाना खाकर मैं सी गया। दूसरे दिन आठ बजे उठा, मैंने सारी कथा अपने चाचा से कह दी। मेरे चाचा ने बुद्धिमत्ता से मेरे पिता को समझा दिया कि इसको आगे विद्या पढ़नी है, इसलिए व्रत उपवास आदि उससे कुछ न कराया करो।

इस समय मैं इनसे यजुर्वेद पढ़ता था और दूसरे एक पण्डित मुझे व्याकरण पढ़ाते थे। सोलहवें या सत्रहवें वर्ष में यजुर्वेद समाप्त हुआ। इसके बाद मैं अपनी जमींदारी के गाँव में पढ़ने के लिए गया।

वहाँ हमारे घर में एक दिन नाच होता था, उस समय मेरी छोटी बहन मरणासन्न थी कण्ठ बन्द हो गया था। मैं वहाँ गया और उसके बिस्तरे के पास खड़ा हुआ। सबसे पहले मैंने मौत वहीं देखी। जब मेरी बहन मर गई, तो मुझे बड़ा भय हुआ। मेरे मन में यह विचार उत्पन्न हुआ कि सबको इसी प्रकार मरना है। सब लोग रोते थे, पर मेरी छाती भय से घड़क रही थी। इसलिये मेरी आंखों से आंसू भी न गिरा। मेरी यह दशा देखकर पिता ने मुझको पाषाण-हृदय कहा।

मेरी माता मुझे बहुत प्यार करती थी, किन्तु उसने भी ऐसा ही कहा। मुझे सोने के लिए कहते थे पर मुझे कभी अच्छी तरह नींद न आती थी; किन्तु मैं हर घड़ी चौक-चौक उठता था और मन में भाँति-भाँति के विचार उठते थे। बहन के मरने के पश्चात् लोक रीति के अनुसार पाँच छः बार रोना होने पर भी जब मुझे रोना नहीं आया तो सब लोग मुझे धिक्कारने लगे।

उन्नीसवें वर्ष में मुझे अत्यन्त स्नेह रखने वाले मेरे चाचा को भी मृत्यु ने आन दबाया। मरते समय उन्होंने मुझे पास बुलाया। लोग उनकी नाड़ी देखने लगे। मैं उनके पास बैठा था, मुझे देखकर उनके टप-टप आंसू गिरने लगे। मुझे भी उस समय बहुत रोना आया, मैंने रो-रो कर आंखें सुजा लीं। ऐसा रोना मुझे कभी नहीं आया। इस समय मुझे ऐसा मालूम होने लगा कि चचा की तरह मैं भी मर जाऊँगा। ऐसा विश्वास हो जाने पर अपने मित्रों और पण्डितों से अमर होने का उपाय पूछने लगा। जब उन्होंने योगाभ्यास की ओर संकेत किया तो मेरे मन में यह सूझी कि घर छोड़कर चला जाऊँ। इस समय मेरी आयु २० वर्ष की थी।

मेरी बड़ी हुई उदासीनता देखकर पिता ने जमींदारी का काम करने को कहा, परन्तु मैंने न किया फिर पिता ने निश्चय किया कि मेरा विवाह कर दें ताकि मैं बिगड़ न जाऊँ। यह विचार घर में होने लगा, यह मालूम करके मैंने दृढ़ निश्चय कर लिया कि विवाह कभी न करूँगा। यह भेद मैंने एक मित्र से प्रकट किया तो उसने नापसन्द किया और विवाह करने को जोर देने लगा। मेरा विचार घर छोड़कर चले जाने का था, पर किसी ने सलाह न दी। जो कहते थे विवाह करने को ही कहते। एक महीने के

भीतर विवाह करने की तैयारी हो गई। यह देखकर मैं एक दिन शौच के मिष (बहाने) से एक धोती साथ लेकर घर से निकल पड़ा और एक सिपाही द्वारा कहला भेजा कि एक मित्र के घर गया हूँ। मैं एक पास के गाँव में गया। इधर घर में मेरी प्रतीक्षा दस बजे रात तक होती रही। इसी रात को चार घड़ी के तड़के मैं गाँव से निकल कर आगे चल दिया और अपने गाँव से दस कोस के अन्तर पर एक गाँव में हनुमान के मन्दिर पर ठहरा।

वहाँ से चलकर सायला योगी के पास गया, परन्तु वहाँ पर मुझे शान्ति नहीं मिली और लोगों से सुना कि लालाभक्त नामी एक योगी है। तब उनकी ओर चल पड़ा। मार्ग में एक बैरागी एक मूर्ति रखकर बैठा हुआ था। बात-चीत होने पर वह बोला अंगुली में सोने का छल्ला डालकर बैराग्य की सिद्धि कैसे होगी? मुझे इस प्रकार खिजाकर मेरे तीनों छल्ले मूर्ति की भेंट चढ़वा लिये। लालाभक्त के पास जाकर मैं योग-साधन करने लगा। रात को एक वृक्ष के नीचे बैठ गया, तो वृक्ष के ऊपर घूँघूँ बोलने लगा। उसकी आवाज सुनकर मुझे भूत का भय हुआ। मैं मठ के भीतर घुस गया।

फिर वहाँ से अहमदाबाद के समीप कोट काँगडा नामी गाँव में आया, वहाँ बहुत से बैरागी रहते थे। एक कहीं की रानी बैरागी के फन्दे में आ गई थी। इस रानी ने मेरे साथ ठट्ठा किया, परन्तु मैं जाल से छूट गया, इस स्थान पर मैं तीन महीने रहा था। यहाँ पर बैरागी मुझ पर हँसी उड़ाने लगे, इसलिये जो रेशमी किनारेदार धोती मैं पहनता था, वह मैंने फेंक दी। मेरे पास केवल ३) रुपये रह गये थे, इनसे सादी धोती खरीदकर पहन ली और तब से अपना ब्रह्मचारी नाम रख लिया।

उन्हीं दिनों मैंने सुना कि कार्तिक के महोत्सव में सिद्धपुर के स्थान पर एक मेला होता है। यह सोचकर कि वहाँ शायद मुझे कोई योगी मिल जावे और अमर होने का मार्ग बता दे, मैंने सिद्धपुर को प्रस्थान किया। मार्ग में मुझे अपने गाँव का आदमी मिला, उसने जाकर मेरे बाप को बतला दिया कि सिद्धपुर की ओर चला गया हूँ। मेरा पिता और घर के लोग बराबर मेरी खोज में ही थे। इस आदमी की जवानी सुनकर मेरे पिता चार सिपाहियों सहित सिद्धपुर को आये। मैं एक मन्दिर में बैठा हुआ था। एकाएक मेरे पिता और चार सिपाही मेरे सामने आकर खड़े

हो गये। देखते ही मेरा कनेजा धड़कने लगा। इस भय से कि पिता मुझको मारेंगे, मैंने उठकर उनके पाँव पकड़ लिये। वे मुझ पर बहुत ही क्रुद्ध हुए, मैंने उनसे कहा कि एक धूर्त बहका कर मुझे यहाँ लाया है, मैं घर जाने को तैयार ही था कि आप आ गये। उन्होंने मेरा तूँबा तोड़ डाला और मेरी छाई फाड़ डाली और कुछ कपड़े मुझे दिये। मेरे पीछे दो सिपाही सदा के लिये कर दिये। रात को जहाँ मैं सोता था एक सिपाही मेरे सिराहने बैठ जागता रहता था। मैंने चाहा कि इस सिपाही को धोखा देकर निकल जाऊँ और इसलिये मैं यह जानने के लिये कि सिपाही रात को सोता है या नहीं, खुद भी जागता रहा। सिपाही को तो यह निश्चय हो जाये कि मैं सो रहा हूँ और इसीलिए मैं नाक से खरटें भरने लगता था। इस प्रकार तीन रातें जागना पड़ा, चौथी रात सिपाही को नींद आगई, तब एक लोटा हाथ में ले बाहर निकला। यदि कोई देख पावे तो भट कह दूँगा कि शौच को जाता हूँ। वहाँ से निकल कर गाँव के बाहर एक बाग में चला गया। प्रातःकाल होते ही एक वृक्ष पर चढ़कर बैठ गया। इस भाँति एक दिन भर इस वृक्ष पर भूखा बैठा रहा। रात को जब अँधेरा हो गया, सात बजे नीचे उतर कर चल दिया। अपने गाँव और घर के मनुष्यों से यह अन्तिम भेंट थी। इसके पश्चात् एक बार प्रयाग (इलाहाबाद) में मेरे गाँव के बहुत से लोग मुझको मिले; परन्तु मैंने उनको अपना पता नहीं दिया, तब से आज तक कोई नहीं मिला।

सिद्धपुर से बड़ीदे को आया, वहाँ॥ नर्मदा नदी के तट पर विचरने लगा इस समय नर्मदा के तट पर योगानन्द स्वामी रहते थे। यहाँ एक दक्षिणी ब्राह्मण कृष्णशास्त्री भी रहते थे, इनके पास मैं कुछ-कुछ पढ़ता रहा। तत्पश्चात् राजगुरु के पास वेदों को पढ़ा। २३ या २४ वर्ष की अवस्था में मुझे चाणूद कनाली में एक सन्न्यासी मिला। मुझे पढ़ने में बहुत ही अनुराग था और सन्न्यास आश्रम में पढ़ने का बहुत सुभीता होता है। इसलिए उसके उपदेश से मैंने श्राद्ध आदि करके सन्न्यास ले लिया, तब से ही दयानन्द सरस्वती नाम धारण किया। मैंने दण्ड गुरु के पास धर दिया।

चाणूद में दो गोसाईं आये, जो राजयोग करते थे, मैं भी उनके

---

॥नर्मदा बड़ीदे में नहीं। अतः वहाँ से घूमता घामता यह भाव लेना होगा।

साथ अहमदाबाद तक गया। वहाँ पर एक ब्रह्मचारी मिला। पर कुछ दिनों बाद मैंने उसका साथ छोड़ दिया। वहाँ से मैं जाते-जाते हरद्वार पहुँचा, वहाँ कुम्भ का मेला था। वहाँ से हिमालय पहाड़ पर उस जगह पहुँचा जहाँ से अलकनन्दा नदी निकलती है। बर्फ बहुत पड़ी हुई थी और पानी भी बहुत ठण्डा था। वहाँ बर्फ लगने से पैर में कुछ तकलीफ हुई। हिमालय पर्वत पर पहुँच कर यह विचार हुआ कि यहीं शरीर गला दूँ।

फिर मन में आया कि यथार्थ ज्ञान प्राप्त करने के बाद शरीर छोड़ना चाहिये। यह निश्चय करके मैं मथुरा में आया। वहाँ मुझे एक घर्मत्मा सन्यासी गुरु मिले। उनका नाम स्वामी विरजानन्द था, वे पहले अलवर में रहते थे। इस समय उनकी अवस्था ८१ वर्ष की हो चुकी थी। उन्हें अभी तक वेद-शास्त्र आदि आर्ष ग्रन्थों में बहुत रुचि थी। ये महात्मा दोनों आँखों से अंधे थे, और इनके पेट में शूल का रोग था। ये कौमुदी और शेखर आदि नवीन ग्रन्थों को अच्छा नहीं समझते थे और भागवत आदि पुराणों का भी खण्डन करते थे। सब आर्ष ग्रन्थों के वे बड़े भक्त थे। उनसे भेंट होने पर उन्होंने कहा कि तीन वर्ष में व्याकरण आ जाता है। मैंने उनके पास पढ़ने का पक्का निश्चय कर लिया। मथुरा में एक भद्र पुरुष अमरलाल नामक थे, उन्होंने मेरे पढ़ने के समय में जो-जो उपकार मेरे साथ किये, मैं उनको भूल नहीं सकता। पुस्तकों और खाने-पीने का प्रबन्ध सब उन्होंने बड़ी उत्तमता से कर दिया। जिस दिन उन्हें कहीं बाहर जाना होता, तो वे पहिले मेरे लिये भोजन बनाकर और मुझे खिला कर बाहर जाते थे। सौभाग्य से ये उदारचेता महाशय मुझे मिल गये थे।

❀ 'हिमालय पहाड़ पर' का स्थान जानने के लिए पूना प्रवचन का दसवाँ व्याख्यान देखना होगा। ऋषि ने बताया है—जिस पहाड़ पर कि पुरानी अलकापुरी थी, 'उस पर मैं इस विचार से गया था कि एक बार ही अपना शरीर (इच्छा मृत्यु से) बर्फ में गलाकर संसार के बन्धनों से निवृत्त हो जाऊँ। परन्तु वहाँ जाकर विचार किया कि इस जगह पर मर जाना तो कोई पुरुषार्थ नहीं है। अलबत्ता ज्ञान प्राप्त करके परोपकार करना पुरुषार्थ है।

—हिमालय में जहाँ-जहाँ घूमे उसका उल्लेख पूना प्रवचन के दसवें व्याख्यान में इस प्रकार है :—'महादेव कैलाश के रहने वाले थे। यह सब इतिहास केदार खण्ड का वर्णन किया गया है। हम स्वयं भी इन सब और घूमे हुए हैं। काशमीर से लेकर नेपाल तक जो ऊँची चोटियाँ हैं वहाँ देवता अर्थात् विद्वान् पुरुष वास करते हैं। —उपदेश मंजरी पृ० ११७

विद्या समाप्त होने पर मैं आगरे में दो वर्ष तक रहा, परन्तु पत्र व्यवहार के द्वारा या कभी-कभी स्वयं गुरुजी की सेवा में उपस्थित होकर अपने सन्देह निवृत्त कर लेता था। आगरे से मैं ग्वालियर को गया, वहाँ कुछ-कुछ वैष्णव मत का खण्डन आरम्भ किया, वहाँ से भी स्वामी जी को पत्रादि भेजा करता था। वहाँ माधवमत के एक आचार्य हनुमत नामी रहते थे। वे किरानी का स्वांग भर कर शास्त्रार्थ सुनने बैठा करते थे। एक-आध बार जब मेरे मुख से कोई अशुद्ध शब्द निकला, तो उन्होंने अशुद्धि पकड़ ली। मैंने कई बार उनसे पूछा कि आप कौन हैं, परन्तु उन्होंने यही उत्तर दिया कि मैं एक किरानी हूँ, सुनने-सुनाने से कुछ बोध प्राप्त हुआ है। एक दिन इस विषय में वार्त्तालाप हुआ कि वैष्णव लोग जो माथे पर खड़ी रेखा लगाते हैं, वह ठीक है या नहीं। मैंने कहा यदि खड़ी रेखा लगाने से स्वर्ग मिलता है, तो सारा मुँह काला करने से स्वर्ग से भी कोई बड़ी पदवी मिलती होगी। यह सुनकर उनको बड़ा क्रोध आया और वे उठ गये। तब लोगों से पूछने पर मालूम हुआ कि यही उस मत के आचार्य हैं।

ग्वालियर से मैं रियासत करौली को गया। वहाँ पर एक कबीर-पन्थी मिला, उसने एक बार वीर के अर्थ कबीर किये थे और कहने लगा कि एक कबीर उपनिषद भी है। वहाँ से फिर मैं जयपुर को गया, वहाँ हरिश्चंद्र नामी एक बड़े विद्वान् पण्डित थे। वहाँ पहिले मैंने वैष्णव मत का खण्डन करके शैव मत स्थापन किया। जयपुर के महाराज सवाई रामसिंह भी शैवमत की दीक्षा ले चुके थे। शैवमत के फैलने पर हजारों रुद्राक्ष की मालायें मैंने अपने हाथों से लोगों को पहनाईं। वहाँ शैवमत का इतना प्रचार हुआ कि हाथी घोड़ों के गलों में भी रुद्राक्ष की माला पहिनाई गई।

जयपुर से मैं पुष्कर को गया, वहाँ से अजमेर आया। अजमेर पहुँचकर शैवमत का भी खण्डन करना आरम्भ किया। इसी बीच में जयपुर के महाराजा साहब लाट साहब से मिलने के लिए आगरे जाने वाले थे। इस आशंका से कि कहीं वृन्दावन निवासी प्रसिद्ध रंगाचार्य से शास्त्रार्थ न हो जावे। राजा रामसिंह ने मुझे बुलाया और मैं भी जयपुर गया; परन्तु यह मालूम होने पर कि मैंने शैवमत का खण्डन आरम्भ कर दिया है राजा साहब अप्रसन्न हुये। इसलिए मैं भी जयपुर छोड़ कर मथुरा में स्वामी जी के पास गया और शंका समाधान किया। वहाँ से मैं फिर हरिद्वार को गया, वहाँ अपने मठ पर पाखण्ड मर्दन लिखकर झण्डा खड़ा किया। वहाँ वाद-विवाद बहुत सा हुआ।

फिर मेरे मन में यह विचार उत्पन्न हुआ कि सारे जगत से विरुद्ध होकर भी गृहस्थों से बढ़कर पुस्तक आदि का जंजाल रखना ठीक नहीं है। इसलिए मैंने सब कुछ छोड़ कर केवल कोपीन (लंगोट) लगा लिया और मौन धारण किया। इस समय जो शरीर में राख लगाना शुरू किया था, वह गत वर्ष बम्बई में आकर छोड़ा। वहाँ तक लगाता रहा था। जब रेल में बैठना पड़ा, तब से कपड़े पहनने लगा। जो मैंने मौन धारण किया था, वह बहुत दिन सध न सका, क्योंकि बहुत से लोग मुझे पहचानते थे। एक दिन मेरी कुटी के द्वार पर एक मनुष्य यह कहने लगा 'निगमकल्प-तरोर्गलितं फलम्' अर्थात् भागवत से बढ़कर और कुछ नहीं है, वेद भी भागवत से नीचे हैं।'

तब मुझमें यह सहन न हो सका, तब मौन व्रत को छोड़ कर मैंने भागवत का खण्डन प्रारम्भ किया। फिर यह सोचा कि ईश्वर की कृपा से जो कुछ थोड़ा-बहुत ज्ञान अपने को हुआ है, वह सब लोगों पर प्रकट करना चाहिए। इस विचार को मन में रख कर मैं फरुखाबाद को गया, वहाँ से रामगढ़ को गया। रामगढ़ में शास्त्रार्थ शुरू किया। वहाँ पर जब दो चार पण्डित बोलते थे, तब मैं कोलाहल शब्द कहा करता था, इसलिए आज तक वहाँ के लोग मुझको कोलाहल स्वामी कहा करते हैं। वहाँ पर चक्रा-कितों के चेले दश आदमी मुझे मारने आये थे, बड़ी कठिनता से उनसे बचा। वहाँ से फरुखाबाद होकर कानपुर आया कानपुर से प्रयाग गया। प्रयाग में भी मारने वाले मुझे मारने को आये थे। पर एक माधवप्रसाद नामी धर्मात्मा पुरुष था, उसकी सहायता से बचा। यह गृहस्थ माधव प्रसाद ईसाई मत ग्रहण करने को तैयार था, उसने इन सब पण्डितों को नोटिस दे रक्खा था, कि यदि आप अपने आर्य धर्म में तीन महीने के भीतर मेरा विश्वास न करा देंगे, तो मैं ईसाई धर्म को स्वीकार कर लूँगा मेरे आर्य धर्म पर निश्चय दिला देने से वह ईसाई न हुआ। प्रयाग से मैं रामनगर को गया। वहाँ के राजा की इच्छानुसार काशी के पण्डितों से शास्त्रार्थ हुआ। इस शास्त्रार्थ में यह विषय प्रविष्ट था कि वेदों में मूर्ति-पूजा है या नहीं। मैंने यह सिद्ध करके दिखा दिया कि प्रतिमा शब्द तो वेदों में मिलता है परन्तु उसके अर्थ तौल नाप आदि के हैं। वह शास्त्रार्थ अलग छपकर प्रकाशित हुआ है, जिसको सज्जन पुरुष अवलोकन करेंगे।

इतिहास शब्द से ब्राह्मण ग्रन्थ ही समझने चाहिये इस पर भी शास्त्रार्थ हुआ था। गत वर्ष के भाद्रपद मास में मैं काशी में था आज तक

चार बार काशी में जा चुका हूँ। जब-जब काशी में जाता हूँ तब-तब विज्ञापन देता हूँ कि यदि किसी को वेद में मूर्ति पूजा का प्रमाण मिला हो, तो मेरे पास लेकर आवें परन्तु अब तक कोई भी प्रमाण नहीं निकाल सका।

इस प्रकार उत्तरीय भारत के समस्त प्रान्तों में मैंने भ्रमण किया है। दो वर्ष हुए कि कलकत्ता, लखनऊ, इलाहाबाद, कानपुर जयपुर आदि नगरों में मैंने बहुत से लोगों को धर्मोपदेश दिया है। काशी फरुखाबाद आदि नगरों में चार पाठशालायें आर्ष-विद्या पढ़ाने के लिए स्थापित की हैं। उनमें अध्यापकों की उच्छृंखलता से जैसा लाभ पहुँचना चाहिए था नहीं पहुँचा। गत वर्ष बम्बई आया। यहाँ मैंने गुसाईं महाराज के चरित्रों की बहुत कुछ छानबीन की। बम्बई में आर्यसमाज स्थापित हो गया। बम्बई, अहमदाबाद, राजकोट आदि प्रान्तों में कुछ दिन धर्मोपदेश किया, अब तुम्हारे इस नगर में दो महीनों से आया हूँ।

यह मेरा पिछला इतिहास है, आर्य-धर्म की उन्नति के लिए मुझ जैसे बहुत से उपदेशक आपके देश में होने चाहिए। ऐसा काम अकेला आदमी भली प्रकार नहीं कर सकता, फिर भी यह दृढ़ निश्चय कर लिया है कि अपनी बुद्धि और शक्ति के अनुसार जो कुछ दीक्षा ली है उसे चलाऊंगा।

अब अन्त में ईश्वर से प्रार्थना करता हूँ कि सर्वत्र आर्य-समाज कायम होकर मूर्ति पूजादि दुराचार दूर हो जावें, वेद शास्त्रों का सच्चा अर्थ सबकी समझ में आवे और उन्हीं के अनुसार लोगों का आचरण हो देश की उन्नति हो जावे। पूरी आशा है कि आप सब सज्जनों की सहायता से मेरी यह इच्छा पूर्ण होगी।

ओ३म शान्तिः शान्तिः शान्तिः

## स्वामी दयानन्द सरस्वती का आत्मचरित्र तथा स्वकथित यात्राएं

‘थ्योसोफिस्ट’ नवम्बर दिसम्बर १८८० ई०

अनुवादक आजीवन ब्रह्मचारी श्री नरेश कुमार

(M.A. साधक पा० यो० सा० सं०)

सम्बत् १८८१ वि० (तदनुसार १८२४ ई०) में काठियावाड़ प्रदेश के मौरवी राज्य के अन्तर्गत एक कस्बे में औदीच्य ब्राह्मण-परिवार में मेरा जन्म हुआ। मैं अब दयानन्द सरस्वती के नाम से प्रसिद्ध हूं, आरम्भ से ही मैं अपने पिता जी का नाम तथा उस कस्बे का नाम जिसमें हमारा परिवार रहता है बताने से उपरत रहा हूं क्योंकि ऐसा करने के लिए मेरे कर्तव्य ने मुझे बाध्य कर रखा है। यदि मेरे सम्बन्धी मेरे विषय में जान जाते तो उन्होंने मुझे ढूँढ लिया होता और मेरे सम्मुख आकर मुझे घर का आश्रय लेने के लिए बाध्य किया होता। ऐसा होने पर मुझे अर्थ स्पर्श रूप पाप में फिर से लिप्त होकर उनकी सेवा शुश्रूषा और आवश्यकताओं की पूर्ति की चिन्ता करनी पड़ती। इस प्रकार यह पवित्र सुधार-कार्य जिसके लिए मैंने अपना सारा जीवन अर्पित किया है, मेरे विवशता-पूर्वक इस से वापिस हट जाने के कारण असाध्य क्षति को प्राप्त हो जाता।

### शिक्षा

मैं पाँच वर्ष का ही हुआ हूँगा जब मैंने देवनागरी अक्षरों का सीखना आरम्भ किया। मेरे माता पिता तथा अन्य वृद्ध सदस्यों ने मुझे जातीय कौटुम्बिक परम्परा और प्रथा के अनुसार शिक्षा देना आरम्भ किया और मुझे लम्बे-लम्बे धार्मिक वैदिक मन्त्रों के सूक्त, अथर्ववेद गद्यांश और भाष्य कण्ठस्थ करा दिये। जब मैं आठ वर्ष का हुआ तब मेरा उपनयन संस्कार करा कर, मुझे गायत्री, कर्म काण्ड सहित सन्ध्या और रुद्राध्याय पढ़ाने के उपरान्त यजुर्वेद संहिता सिखाई गई। क्योंकि हमारा परिवार शैव मतावलम्बी था अतः उनका प्रधानतम लक्ष्य मुझे शैव मत के धर्म-

---

टिप्पणी:—यह लेख नवम्बर दिसम्बर १८८० में प्रकाशित हुआ।  
—पं० भगवत् जी। लिखित (महर्षि दयानन्द का आत्म चरित से।)

तत्त्वों के रहस्यों में दीक्षित करना था। इस प्रकार वचन में ही मुझे शिव के प्रतिनिधि मूर्तिका से बने अद्भुत चिन्ह को जिसे पार्थिव लिंग कहते हैं पूजने की शिक्षा दी गई थी। इस पूजा के साथ बहुत मात्रा में उपवास तथा विविध कठोर व्रतचर्या जुड़ी हुई थी और मुझे प्रातःकाल जल्दी भोजन करने का अभ्यास था। अतः मेरी पूज्या माता मेरे स्वास्थ्य के भय से इसके दैनिक अनुष्ठान का विरोध करती थीं, किन्तु मेरे पिता जी इसकी अनिवार्यता पर कठोरता से बल देते थे और अन्ततः यही प्रश्न उन दोनों के बीच सतत कलह का कारण बन गया था। इसी काल में मैंने संस्कृत व्याकरण का अध्ययन किया। वेदों को कण्ठस्थ किया और विभिन्न पूजा कथा स्थानों, मन्दिरों और शिवालयों में पिता जी के साथ रहा। पिता जी के उपदेश सदा इस एक ही विषय पर केन्द्रित होते थे कि शिव के प्रति सर्वोत्कृष्ट श्रद्धा और भक्ति रखनी चाहिये। क्यों कि शिवोपासना ही सब धर्मों में परमधर्म है। इस प्रकार करते कराते चौदहवाँ वर्ष आरम्भ होने से पूर्व ही सम्पूर्ण संहिता, तथा अन्य वेद संहिताओं के भाग, शब्द रूपावली, और व्याकरण कण्ठस्थ करने के उपरान्त मेरा पाठ्य क्रम समाप्त हो गया।

### रात्रि जागरण (उपवास का पौर्वान्हिक)

पिता जी का घर लेन देन का बैंक घर था। इस से भी बढ़कर उनके पास कुल—क्रमागत जमादारी (सरकारी माल गुजारी तथा कर-संग्रह करने वाले, अधिकारी एवं न्यायाध्यक्ष का अधिकार रहने के कारण हमसे गरीबी कोसों दूर थी। अतः अब तक का जीवन बहुर आनन्द पूर्वक व्यतीत हुआ था।

जहाँ कहीं भी शिव पुराण का पाठ कथायें, व्याख्यायें होती तो पिता जी मुझे अवश्य साथ रखते। माता जी की अनास्था की परवाह न करते। उन्होंने दृढ़ता-पूर्वक आदेश दे दिया कि मैं पार्थिव पूजा प्रारम्भ कर दूँ।

❧ Remonstrances = A formal representaion of any grievance.  
—S. Swami.

❧ Parthiva puja is the ceremony connected with the worship of a Lingam of clay the emblem of SHIVA T.

—पार्थिव पूजा का अर्थ शिव का म्मिटी का लिंग अर्थात् शिव का स्थानापन्न कोई चिन्ह बनाकर पूजना। —थियासोफिस्ट की टिप्पणी

जब अन्धकार महानिशा उपवास की महा-शिवरात्रि आयी जो माघ व० दि० कृष्ण त्रयोदशी के अगले दिन थी। पिता जी ने मेरे बल की क्षीणता की आशंका से माता जी द्वारा उठाये गए प्रतिरोध पर ध्यान न देते हुए मुझे व्रत रखने की आज्ञा दी, और बताया कि मुझे उसी रात पावन शिव-उपाख्यान में दीक्षा मिलनी है। शिव मन्दिर में पूरे रात्रि जागरण में भाग लेना है। दूसरे नवयुवकों के साथ जो अपने माता पिता के साथ आए थे, मैंने भी अपने पिता जी का अनुगमन किया। यह रात्रि जागरण चार भागों में बँटा होता है जो एक एक पहर अथवा तीन तीन घंटे के होते हैं। अपना पूजा-कार्यक्रम समाप्त करके अर्थात् दोपहर तक पूजन आदि करने के बाद जब आधी रात हो गई तो मैंने देखा कि पुजारी अर्थात् मन्दिरके दुस्सेवक तथा अन्यान्य साधारण भक्तलोग मन्दिर का अन्तः प्रकोष्ठ छोड़कर बाहर आकर सो गए। मैंने वर्षों शिक्षा पाई थी कि उस विशेष रात्रि को सो जाने से पूजाव्रती धर्मनिष्ठा के सुफल को खो बैठता है अतः मैंने शीतल जल से नेत्रों को बार बार धोया और तन्द्रा से प्रभावित न होने का यत्न किया। परन्तु मेरे पिता जी कम सौभाग्यशाली थे। थकान के आवेग को रोकने में असमर्थ हो कर तथा केवल मुझे ही जागरूक छोड़ कर वे सर्वप्रथम निद्राभिभूत हो गए।

### मूर्ति पूजा पर अश्रद्धा

विचारों के दल के दल मेरे मन में उमड़ने लगे। और एक के बाद एक शंका मेरे क्षुब्ध मस्तिष्क में उठने लगी। मैंने अपने से प्रश्न किया—‘क्या यह सम्भव है कि मानव सदृश देहधारी भगवान् शिव की मूर्ति जिन्हें मैं अपने बैल पर सवार हुआ देख रहा हूँ वे कैलाश पति भगवान् महादेव ही हों तथा शास्त्रों के वर्णन के अनुसार जो विचरण करते हैं—खाते पीते हैं, जो हाथ में त्रिशूल धारण करते हैं, अपना डमरू बजाते हैं तथा मानव को अभिशाप देते हैं। पुराणों की कथाओं में आए वर्णन के अनुसार तो वे क्योंकि दिव्य पराक्रमी एवं सबके अधिपति हैं। इस प्रकार के विचारों को रोकने में असमर्थ होकर मैंने अपने पिताजी को जगाकर हड़बड़ाहट से पूछा कि यह मन्दिर में रखी हुई भयंकर शिवमूर्ति ही शास्त्रों में उल्लिखित महादेव हैं अथवा उनसे भिन्न हैं ?

पिताजी ने कहा—“तुम यह क्यों पूछते हो ?”

मैंने कहा—मैं सर्वशक्तिमान् जीवन्त परमेश्वर की भावना इस मूर्ति

में नहीं कर पा रहा हूँ, जिसके शरीर पर चूहे दौड़ सकते हैं और जो उनके सम्पर्क से अपनी प्रतिमा के अपवित्र हो जाने का लेशमात्र भी विरोध नहीं कर सकती है।

इस पर पिताजी ने समाधान करने का यत्न किया और कहा कि, यह पत्थर की प्रतिमा पवित्र ब्राह्मणों के द्वारा प्रतिष्ठापित हो जाने के प्रभाव से साक्षात् महादेव ही हैं। अतः इनकी पूजा की जाती है। इस मानसिक अन्धकार से भरे कलियुग में महादेव का वास्तविक दर्शन नहीं हो सकता। अतः इस प्रतिमा ही के माध्यम से भक्त जन कैलाश-पति भगवान् महादेव की पूजा करते हैं और यह पूजा उन देवाधिदेव को इतना प्रसन्न कर देती है—मानो प्रतिमा के स्थान पर वे स्वयं ही विराजमान हों। पिताजी के इस उत्तर से मेरी संतुष्टि नहीं हुई। अल्पवयस्क होने से मैं पिताजी के द्वारा प्रस्तुत उस कुतर्कपूर्ण तथा असंगत समाधान में अश्रद्धा किए बिना न रह सका। भूख और थकान से निष्प्रभ हो जाने के कारण मैंने पिताजी से घर जाने की अनुमति मांगी। पिताजी ने स्वीकार करके मुझे एक सिपाही के साथ भेज दिया और अपनी इस आज्ञा को कि मैं भोजन करके व्रत भंग न करूँ एक बार और दोहराया, किन्तु घर पर जय मैंने माताजी को क्षुधा के विषय में बताया तो उन्होंने मुझे मिठाई खिला दी और मैं गहरी नींद में सो गया।

### निर्णय

प्रातः जब पिताजी घर पर आए तो यह जानकर कि मैंने व्रत भंग कर दिया है बड़े क्रोधित हुए। उन्होंने मुझे यह महसूस कराने का यत्न किया कि मैंने घोर अपराध कर दिया है; किन्तु मैं उस पत्थर की मूर्ति के परमेश्वर होने में विश्वास न कर सका और उपवास रखने तथा उसकी पूजा करने के हेतु को न समझ सका। मुझे अपने श्रद्धा के अभाव को छिपाना पड़ता था और पूजा करने न जाने के कारण के रूप में अपनी पढ़ाई का बहाना प्रस्तुत करना पड़ता था। वस्तुतः किसी अन्य कार्य के लिए अध्ययन कार्य से अतिरिक्त मेरे पास या तो बिल्कुल समय नहीं बचता था और यदि बचता तो बहुत ही थोड़ा। इसका माता जी प्रबल समर्थन करती थीं। यहाँ तक कि मेरे चाचा जी भी मेरे इस हेतु का इतना अच्छा युक्तियुक्त पूर्ण समर्थन करते थे कि अन्त में मेरे पिताजी को मान लेना पड़ा और उन्होंने मुझे पूरा ध्यान अध्ययन कार्य पर केन्द्रित करने की आज्ञा दे दी। परिणामतः मैंने अध्ययन क्षेत्र को निघण्टु, निरुक्त, पूर्व-

मीमांसा अन्य शास्त्रों तथा कर्मकाण्ड और उसके विधि विधान तक विस्तृत कर लिया ।

### सर्वस्व त्याग

मेरे अतिरिक्त दो छोटी बहनें और दो भाई थे मेरी आयु १६ वर्ष की थी जबकि मेरे सबसे छोटे भाई का जन्म हुआ । एक स्मरणीय रात्रि को जब हम एक मित्र के घर नृत्योत्सव देख रहे थे । एक नौकर ने घर से आकर यह भयंकर सूचना दी कि मेरी छोटी बहन जो चौदह वर्ष की थी एक घातक रोग से ग्रस्त हो गई है । हर प्रकार की चिकित्सा करने के बावजूद भी हमारे लौटने के चार घड़ी पश्चात् ही वह चल बसी । यह मेरे जीवन में सबसे पहला प्रियजन का मृत्यु से वियोग का अनुभव था । मुझे इससे भारी आघात लगा । जब सम्बन्धी तथा मित्रगण मेरे चारों ओर बैठे रोदन और विलाप कर रहे थे मैं व्यथा सागर में डूबा हुआ मूर्ति के समान निस्तब्ध खड़ा था । मनुष्य जीवन की अस्थिरता विषयक एक दुःखपूर्ण तथा दीर्घ चिन्तन श्रृंखला उमड़ पड़ी । फलतः मैंने सोचा—'इस विश्व में कोई भी जन्तु मृत्यु के निर्जीव हाथों से नहीं बच सका । मुझे भी किसी भी समय मृत्यु का ग्रास बनना पड़ेगा । इस शाश्वत मृत्यु जात मानव यंत्रणा को विनाश करने का उपाय कहाँ ढूँढूँ, मुझे कहाँ से मोक्ष प्राप्ति का साधन मिलेगा । मैंने, उसी समय उसी स्थान पर निश्चय किया कि मैं मोक्ष की खोज अवश्यमेव करूँगा । चाहे इसके लिए मुझे कुछ भी मूल्य चुकाना पड़े और इस प्रकार अपने-आपको तथा अज्ञ मानवता को नास्तिकों को प्राप्त होने वाली मृत्यु समय की उस अवर्णनीय पीड़ा से बचाऊँगा । इस चिन्तन के अन्तिम परिणाम ने मुझे सदा के लिए दिखावटी व्रत और उनकी कठोरता से उपरत कर दिया और मैं आत्मा की आन्तरिक आध्यात्मिक उन्नति का समर्थक हो गया । किन्तु मैंने अपने निश्चय को गुप्त रखा और भावनाओं की गहराई में किसी को नहीं भाँकने दिया । मैं तब अठारह वर्ष का था । कुछ ही समय पश्चात् मेरे चाचा जी, जो एक बड़े विद्वान् और दैवी सम्पत् वाले व्यक्ति थे जो सदा मुझ पर महती कृपा दृष्टि रखते थे तथा जन्म से ही मैं जिनका स्नेहपात्र रहा था, वह भी मृत्यु को प्राप्त हो गये । उनकी मृत्यु ने मुझे घोर निराशा की दिशा में ला छोड़ा । मेरे अन्तस्तल में बैठी भावनायें और भी दृढ़-मूल हो गईं कि सांसारिक जीवन में कोई भी वस्तु ऐसी नहीं है जिसके लिए मैं जीवित रहूँ या जीवन की अपेक्षा करूँ ।

## विघ्न

यद्यपि मैंने अपनी वास्तविक मानसिक स्थिति से अपने माता-पिता को अवगत नहीं होने दिया तो भी मैंने अपनी असावधानी से अपने मित्रों पर यह प्रगट कर दिया कि मेरे लिए वैवाहिक जीवन का विचार कितना अरुचिकर था। यह बात मेरे माता-पिता के कानों में पड़ी तो उन्होंने तत्क्षण निर्णय कर लिया कि मेरी सगाई अविलम्ब कर दी जाए और मेरे बीस वर्ष का होते ही विवाह संस्कार भी कर दिया जाए।

उनके निश्चय से अवगत होते ही मैंने उनकी योजना को ध्वस्त करने का पूरा यत्न किया मैंने अपने मित्रों को मध्यस्थता करने को प्रेरित किया और उन्होंने मेरे पिताजी के समक्ष इतनी तत्परता से मेरा समर्थन किया कि उन्होंने मेरी सगाई को उस वर्ष के अन्त तक टालने का वचन दे दिया। उसके बाद मैंने उनसे यह प्रार्थना करनी आरम्भ की कि वे मुझे बनारस भेज दें जहाँ मैं अपने व्याकरण का ज्ञान पूर्ण कर सकूँ। ज्योतिष और अन्य पांच भौतिक शास्त्र पढ़ सकूँ तथा इन कठिन विद्याओं में पूर्ण कुशलता प्राप्त कर सकूँ; किन्तु इस बार मेरी माताजी ने इसका प्रबल विरोध किया। उन्होंने घोषणा की कि मैं बनारस नहीं जा सकूँगा क्योंकि जो भी मैं पढ़ना चाहूँ वह घर पर रहकर भी उतना ही भली प्रकार से पढ़ा जा सकता है जितना कि बाहर जाकर और आगामी वर्ष से पूर्व तुम्हारा विवाह भी हो जाना है। नवयुवक बहुत अधिक पढ़-लिखकर मन-मानी करने लगते हैं

इस प्रसंग में मुझे अपने पिताजी से भी अधिक सफलता नहीं मिली क्योंकि ज्यों ही मैंने उनके समक्ष इस प्रसंग में अनुग्रह की प्रार्थना को दोहराया और कहा कि मेरी सगाई तब तक के लिए स्थगित कर दी जाए जब तक मैं बनारस से विद्या तथा अन्य विज्ञानों में प्रवीण विद्वान् के रूप में न लौटूँ इसके विरोध में माताजी ने घोषणा की कि ऐसी अवस्था में केवल वे मेरी सगाई को वर्ष के अन्त तक स्थगित करना भी स्वीकार न करेंगे किन्तु मेरा विवाह भी तत्काल ही सम्पन्न करा देंगी मैंने यह अच्छी तरह समझ लिया कि मेरे हठ से काम बिगड़ जायेगा। मैं आग्रह करने से रुक गया और कह दिया कि मैं घर पर अध्ययन जारी रखने से संतुष्ट हूँ, यदि मुझे एक पुराने मित्र तथा विद्वान् पण्डित जो हमारी जमींदारी के अन्दर छः मील की दूरी पर एक गाँव में रहता है, के पास अध्ययन के लिए जाने

की आज्ञा दी जाए। पिताजी से अनुमति मिलने पर मैं उनके पास कुछ समय रहकर शान्तिपूर्वक पढ़ता रहा।

वहाँ रहते हुए एक दिन प्रसावश मैंने विवाह के विषय में अपना अटूट विरोध प्रगट कर दिया। यह सूचना घर पर पहुँच गई। मुझे घर लौट आने की आज्ञा भेज दी गई, और लौटने पर मैंने अपने विवाह के लिए हर प्रकार से पूरी तैयारी देवी। अब मैंने पूर्ण रूप से समझ लिया कि न ही मुझे और अधिक दिन अध्ययन करने की अनुमति मिलेगी और न ही मेरे माता पिता मेरे विवाह न करने के विचार से सहमत हो सकेंगे। इस अन्तिम परिणाम पर पहुँच जाने के पश्चात् मैंने अपने और विवाह के बीच एक स्थायी रोक लगाने का निश्चय किया।

### घर का परित्याग

सम्बत् १९०३ के एक दिन सायंकाल के समय किसी को भी अपने मन का भेद बताये बिना मैं चुपचाप घर से निकल पड़ा। आठ मील दूर एक गाँव के समीप पहली रात व्यतीत करके मैं उपःकाल से एक पहर पहले ही चल पड़ा और रात्रि होने से पूर्व ही मैंने तीस मील से अधिक मार्ग तय कर लिया।

मैं ग्राम रास्तों, गांवों तथा बस्तियों से जिनमें मुझे पहचाना जा सकता था ध्यानपूर्वक बचता जाता था। ये सावधानियाँ मुझे लाभकर सिद्ध हुई; क्योंकि अपने गृह त्याग के तीसरे ही दिन मुझे एक सरकारी अधिकारी से विदित हुआ कि मनुष्यों का एक विशाल दल-जिसमें कुछ अश्वारोही भी सम्मिलित हैं—परिश्रमपूर्वक घूमते हुए एक ऐसे नवयुवक की जो अपने घर से भाग खड़ा हुआ है—खोज कर रहा है।

भिक्षुक ब्राह्मणों के एक दल ने कृपा करके मुझे सारे धन से छुट्टी दिला दी थी। यहाँ तक कि मेरे सोने चाँदी के बने आभूषण, अंगूठी, कंकन तथा दूसरे रत्नों को भी यह कहकर कि—'जितना अधिक दान दोगे उतना ही अधिक लाभ आत्मसंयम के फलस्वरूप भावी जीवन में होगा'—ले लिया था। इस प्रकार सारे धन से छुटकारा पाकर मैं शीघ्र ही एक बहुपठित विद्वान् के निवास स्थान पर आया। इनके विषय में मैंने इधर उधर विचरने वाले संन्यासियों और वैरागियों से बहुत कुछ सुना था। इनका नाम लाला भक्त था। वे शैला नगर में रहते थे। जहाँ मैं एक ब्रह्म-

चारी से मिला, जिसने मुझे तत्काल ही दीक्षा लेने का सुभाष दिया और मैंने तदनुसार आचरण किया।

### पवित्र ब्रह्मचर्य की दीक्षा

अपने सम्प्रदाय में दीक्षा देकर तथा मेरा नाम 'शुद्ध चैतन्य ब्रह्म-चारी', रखकर उन्होंने मुझे लालिमामय पीले वस्त्र धारण करा दिए। नया वेश धारण करने के पश्चात् मैं वहाँ से अहमदाबाद के निकटवर्ती एक छोटे राज्य कोठकांगड़ा की ओर चला। दुर्भाग्यवश, मार्ग में मुझे अपने जन्म स्थान के पास के एक गाँव का निवासी एक वैरागी मिल गया जो हमारे परिवार से भली-भाँति परिचित था। वह मुझे देखकर विस्मित हुआ उतना ही उसे देखकर मैं उद्विग्न हुआ। स्वभावतः मेरे वहाँ उस विशेष वेश में आने का कारण पूछने पर मैंने उसे बताया कि विश्व का परिभ्रमण और दर्शन करने के विचार से घर से निकल आया हूँ। उसने मेरे वस्त्रों का उपहास किया और मुझे इस उद्देश्य के लिए गृह-त्याग करने का दोषी बताया। मेरी घबराहट के कारण वह वैरागी मेरे भावी सकल्प को जानने में सफल हो गया। मैंने उससे कह दिया कि कार्तिक के मेले में जो सिद्ध पुर में होगा, जाने की इच्छा है और मैं अब वहीं जा रहा हूँ।

उस वैरागी से अलग होते ही मैं शीघ्र ही सिद्धपुर पहुँच गया और नीलकण्ठ महादेव के मन्दिर में ठहर गया, जहाँ दण्डी स्वामी तथा अन्य ब्रह्मचारी लोग पहले से ही रहते थे। मैंने पवित्रात्मा पुरुषों से सम्पर्क करते हुए तथा विद्वानों एवं परमार्थ-परायण आचार्यों की सत्संगति में बिना किसी कष्ट के आनन्द पूर्वक दिन व्यतीत किए।

### परिवार से सम्बंध विच्छेद

इसी बीच, वह वैरागी, जो मुझे कोठ कांगड़ा में मिला था, (धोखे-वाज सिद्ध हुआ) उसने हमारे परिवार को एक पत्र लिखा जिसमें मेरी अभिलाषा की सूचना तथा मेरे ढूँढे जाने के स्थान का भी संकेत दे दिया। फलतः मेरे पिता जी अपने सिपाहियों सहित सिद्धपुर आए, और सारे मेले में मुझे क्रम से ढूँढना आरम्भ किया। उन विद्वान् पण्डितों से मेरे विषय में कुछ जानकर एक दिन प्रातः काल अचानक मेरे सामने आ खड़े हुए। भयंकर क्रोध के कारण उनकी ओर देखा नहीं जाता था। उन्होंने मुझे बुरी तरह से झिड़का और उनके परिवार को सदा सदा के लिए बद-

नाम करने का दोषी ठहराया। उन पर दृष्टिपात करते ही मैंने यह समझ लिया कि उनका विरोध करने का कोई लाभ नहीं होगा। अतः मैंने भटपट यह निर्णय कर लिया कि मुझे क्या आचरण करना है। हाथ जोड़कर उनके चरणों में गिरते हुए मैंने उनके क्रोध को शांत करने के हेतु विनम्र स्वर से प्रार्थना की कि किसी के बहकाने से मैंने घर छोड़ दिया था और अब पश्चात्ताप से दुःखित होकर घर लौटने ही वाला था कि सौभाग्यवश आप आ गए। अब मैं आपके साथ घर लौट जाने का इच्छुक हूँ। इतनी विनम्रता के उपरान्त भी क्रोध के आवेश में उन्होंने मेरे पीले वस्त्रों को फाड़कर चिथड़े बना दिया। भपट कर मेरे हाथ से तुम्बे को छीन लिया और उसे दूर फेंक दिया और साथ ही मुझ पर तीखी झिड़कियों की बौछार करते रहे। साथ ही साथ मुझे साता का हत्यारा भी कहा। उनके साथ चलने का वचन देने के बावजूद भी उन्होंने मुझे सिपाहियों की देखरेख में सौंप दिया और उन्हें मुझ पर कठोर निगरानी रखने तथा अपनी दृष्टि से एक पल भी ओझल न होने देने की आज्ञा दी।

### वेदान्ती बना

किन्तु मेरा निश्चय भी पिता जी के निश्चय के समान ही पक्का था। मैं अपने उद्देश्य की पूर्ति के लिए दृढ़ संकल्प था और भाग निकलने के सुयोग की जागरूकता से प्रतीक्षा कर रहा था। उसी रात को मैंने देखा कि लगभग ३ बजे वह सिपाही जिसकी मुझ पर पहरा देने की बारी थी मुझे सोया समझकर स्वयं भी सो गया। चारों ओर शान्ति थी। अतः चुपचाप उठकर और हाथ में जल का तूम्बा (लोटा) लेकर मैं भाग निकला और मेरी अनुपस्थिति का ज्ञान होने तक मैं १ मील दूर अवश्य निकल गया था। मार्ग में मैंने एक वृक्ष देखा जिसकी घनी शाखाएँ एक शिवालय की छत पर छाई हुई थीं। मैं उत्सुकता से उस पर चढ़ गया और अपने को उस के पत्तों के सघन गुच्छों में छिपाकर यह प्रतीक्षा करने लगा कि देखें मेरे भाग्य में क्या लिखा है। प्रातः लगभग ४ बजे मैंने मन्दिर के कंगूरों के छिद्रों से देखा कि सिपाही लोग मन्दिर के बाहर भीतर उत्साह पूर्वक मेरी खोज कर रहे हैं। मैंने श्वास की गति को रोक लिया और निस्सन्दन

❀ अंग्रेजी में यहां टम्बलर है। टम्बलर का अर्थ तूम्बा या जल पात्र है। दयानन्द लोटा लेकर ही निकल सकते थे। तूम्बा तो पिताजी ने पहले ही फोड़ दिया था। दूसरा कहां से आया होगा। —स० स्वामी

भाव से लेटा रहा। अन्त में, अपने आपको गलत मार्ग पर समझकर वे-  
अनमने होकर लौट गए। नयी मुठभेड़ से डर कर मैं सारे दिन भर उसी  
स्थान पर छिटा रहा। अन्धकार के खूब फैल जाने पर मैं वृक्ष से उतर  
कर विपरीत दिशा में भाग खड़ा हुआ। इस बार मैं ग्राम रास्तों से पहले  
से भी अधिक बचता हुआ तथा जितना हो सकता था कम से कम लोगों  
से मार्ग पूछता हुआ ग्रहमदाबाद पहुँच गया और वहाँ से फौरन बड़ौदा  
चला गया। वहाँ मैं चैतन्य मठ पर कुछ काल ठहरा। वेदान्त दर्शन के  
विषय में मेरा ब्रह्मानन्द जी तथा अन्यान्य ब्रह्मचारियों और सन्न्यासियों  
से अनेक बार वाद-प्रतिवाद हुआ। यह श्री ब्रह्मानन्द जी तथा दूसरे पवि-  
त्रात्मा पुरुष ही थे जिन्होंने इस प्रसंग में कि मैं ब्रह्म हूँ मेरा पूर्ण रूप से  
समाधान कर दिया। मैं ब्रह्म हूँ, ब्रह्म का अंश हूँ क्योंकि जीव और ब्रह्म  
एक ही हैं—मेरी यह धारणा अचल हो गई। पहले भी वेदान्त पढ़ते  
हुए मुझे यह विश्वास किसी सीमा तक अवश्य हो गया था किन्तु अब  
तो शंकाओं का पूर्ण समाधान हो जाने से मुझे निश्चय हो गया कि मैं  
ब्रह्म हूँ।

### वेदान्त का अध्ययन

बड़ौदा में बनारस की रहने वाली एक स्त्री से यह सुन कर कि  
काशी में किसी स्थान विशेष पर परम विद्वान् पण्डितों की एक सभा होगी  
मैंने काशी की यात्रा आरम्भ कर दी। वहाँ पहुँच कर सच्चिदानन्द परम-  
हंस जी से मिला जिनसे मैंने विविध विज्ञान, अध्यात्म विज्ञान के प्रसंगों तथा  
आत्मतत्त्व के विषय में वार्तालाप किया। उनसे मुझे ज्ञात हुआ कि बहुत  
से चरित्रवान् सन्न्यासी और ब्रह्मचारी चाणोद कनियाली में रहते हैं।  
परिणामतः मैं नर्मदा के किनारे-किनारे चलता हुआ उस पवित्र स्थान  
पर पहुँच गया।

यहाँ पर मैं प्रथम बार बहुत से दीक्षित व योग में दीक्षित साधुओं,  
अनेक ब्रह्मचारियों और चिदाश्रम नामक सन्न्यासी से मिला। कुछ वाद-  
विवाद के बाद मैंने श्री परमानन्द परमहंस से कई मास तक वेदान्तसार,  
आर्य हरिमिहिर तोटक, वेदान्त परिभाषा तथा अन्य दार्शनिक ग्रन्थों का  
अध्ययन किया। इस समय एक ब्रह्मचारी होने के नाते मुझे अपना भोजन  
स्वयं बनाना पड़ता था जो मेरी शिक्षा में एक बड़ा विघ्न बन गया था।

इस से छुटकारा पाने के लिए मैंने निर्णय किया कि यदि संभव हो सके तो ॐ सन्न्यास आश्रम की चतुर्थ श्रेणी में प्रवेश किया जाए। इस नाम परिवर्तन से अपने पारिवारिक परिचय को छिपाने और इस प्रकार अपनी सुरक्षा के लिए भी मैंने सन्न्यास का अवलम्बन ग्रहण करना चाहा। और अपने मित्र एक दक्षिणी पंडित के माध्यम से मैंने वहाँ के एक दीक्षित अर्थात् उनमें सबसे अत्यधिक महा विद्वान् थे उनसे प्रार्थना की कि वे मुझे तुरन्त ही सन्न्यास दे दें। उन्होंने मेरे भरपूर यौवन के कारण मुझे सन्न्यास देने से साफ इन्कार कर दिया। किन्तु, मैं निराश नहीं हुआ।

कुछ मास पश्चात् दो दाक्षिणात्य साधु आये। उनमें एक स्वामी था। और दूसरा ब्रह्मचारी। वे चाणोद के निकट ही जंगल में स्थित एकांत खण्डर में ठहर गए। जो हमारे स्थान से दो मील की दूरी पर था। मेरे दक्षिणी मित्र जो वेदान्त दर्शन के गंभीर विद्वान् थे-मुझे साथ लेकर उनसे मिलने गए। आध्यात्मिक विचार विनिमय के उपरान्त वे दोनों दीक्षित एक दूसरे के विस्तृत अध्ययन से परिचित हो गए। उन्होंने हमें बताया कि

ॐ सन्न्यास :—शास्त्रों में विविध आश्रमों तथा अवस्थाओं का वर्णन है। (१) ब्रह्मचारी—जो भिक्षा वृत्ति से निर्वाह करता हुआ तथा वीर्य रक्षा करता हुआ अध्ययन रत रह कर जीवन बिताता है।

(२) गृहस्थ—जो पुण्यमय विवाहित जीवन बिताता है।

(३) वानप्रस्थ—जो एक साधु जीवन बिताता है। (४)—सन्न्यासी या चतुर्थ आश्रमी—यह सर्वोच्च आश्रम है जिस में पहले तीनों आश्रमों का भी सदस्य प्रवेश पा सकता है। इस आश्रम में भी चार क्रमिक सोपान हैं (क) कुटिचर—जो यज्ञोपवीत धारण किए हुए, चोटी रखे तीन ग्रन्थी वाला दण्ड धारण किये, रक्तिम काषाय वस्त्र धारण करता है। एक कुटिया-निर्जन स्थान में रहतेहुए पर-ब्रह्म के ध्यान में निरत रहता है। (ख) बहूदक—जो उसी प्रकार के रक्तिम वस्त्र धारण किए हुए, सात घरों से एकत्रित भिक्षा पर निर्वाह करता है और अपने परिवार से सन्ध्या पृथक् रहता है (ग) हंस—पूर्व दो की भान्ति ही है। किन्तु यह एक गाठ वाला दण्ड धारण करता है दाढ़ी तथा केश बढ़ा कर रखता है, यह सर्वोच्च श्रेणी का चतुर्थ श्रेणी का सन्न्यासी है। जो परमहंस सिद्ध होता है दीक्षित कहा जाता है। (थि०)

वे शंकराचार्य के प्रमुख मठ शृंगेरि मठ से आये थे और द्वारका की यात्रा पर जा रहे थे। मैंने स्वामी परमानन्द सरस्वती को अपनी तात्कालिक अवस्था, स्थिति, ध्येय तथा कठिनाइयों से अवगत कराने के लिये और सन्यास की दीक्षार्थ अपने इन्हीं दक्षिणी मित्र से कहलाया। तदनुसार उन्होंने स्वामी परमानन्द जी को बताया कि यह एक अल्पवयस्क ब्रह्मचारी है जो अध्यात्म शास्त्र निर्विघ्नता पूर्वक पढ़ना चाहता है और जो सब प्रकार के दोषों और ऐबों से मुक्त है। अपने विद्योपाजन को निर्विघ्न चलाने के लिए यह कृतसंकल्प है। अतः मैं इसको सन्यासियों की चतुर्थ श्रेणी की दीक्षा के योग्य समझता हूँ। इस प्रकार इसको सांसारिक उत्तरदायित्व और बन्धनों से भी छुटकारा पाने के लिए ठोस सहयोग मिल जाएगा। और यह अपने आध्यात्मिक अध्ययन में निर्बाध रूप से आगे बढ़ सकेगा।” प्रथम तो इन स्वामी जी ने भी इनकार कर दिया कि दीक्षार्थी की आयु छोटी है। साथ ही वे स्वयं महाराष्ट्रीय थे अतः उन्होंने मुझे किसी गुजराती सन्यासी से दीक्षार्थ प्रार्थना करने की सलाह दी। मेरे मित्र के उत्सुकता पूर्वक प्रेरणा देने पर तथा यह याद दिलाने पर कि महाराष्ट्रीय सन्यासी गणती गौड़ों को भी दीक्षा दे देते हैं और पाँच द्वाविड़ों में से होने के नाते इसके मामले में कोई आपत्तिकी संभावना नहीं है। उन्होंने स्वीकृति दे दी। इस से तीसरे दिन उन्होंने मेरा दीक्षा संस्कार करके मेरा नाम दयानन्द सरस्वती रखा और मुझे एक दण्डॐ प्रदान कर दिया। दीक्षा प्रदाता की आज्ञा से तथा अपनी भी इच्छा से मुझे एक लाक्षणिक बाँस जिसे दण्ड कहते हैं साथ रखना पड़ता था, मैंने कुछ समय के लिए त्याग दिया क्योंकि इसके साथ सन्यासी के विशेष कर्मकाण्ड और रीति रिवाज जुड़े हुए थे। इससे मेरी शिक्षा की निर्विघ्न उन्नति में बाधा ही उपस्थित होती थी।

### यात्राएँ-योग की खोज

दीक्षा समारोह समाप्त होने पर वे द्वारका चले गये। कुछ समय तक मैं एक साधारण सन्यासी के रूप में चाणोद कल्याणी में ही रहा।

किन्तु, व्यास आश्रम में रह रहे एक योग विद्या विशारद स्वामी योगानन्द के विषय में सुनकर उनके पास एक विनीत शिष्य के रूप में

---

ॐ तीन और सात ग्रन्थियों से युक्त सरल सीधा बाँस जो दण्डी स्वामियों को दीक्षा सामर्थ्य के चिन्ह के रूप में दिया जाता है।

प्रस्तुत हुआ तथा योग विद्या के पठनात्मक एवं क्रियात्मक अभ्यासों की शिक्षा प्राप्त करने लगा। प्रारम्भिक शिक्षा की समाप्ति पर मैं छिनूर चला गया क्योंकि वहाँ इस कस्बे के सीमा प्रान्त भाग में कृष्ण शास्त्री रहते थे जिनके पथ प्रदर्शन में मैंने अपने संस्कृत व्याकरण के ज्ञान को पूर्ण कर लिया उसके पश्चात् मैं चाणोद लौट गया जहाँ पर मैं एक दीर्घकाल तक रहा। वहाँ पर ज्वाला नन्द पुरी और शिवानन्द गिरि दोनों योगियों के मिलने पर वहाँ उनके साथ योग का अभ्यास किया हम तीनों लुप्त प्रायः योग के विषय में गहन चर्चा करते थे। अन्त में, उनके आदेश के अनुसार उनकी विदाई के एक मास पश्चात् मैं उनके पास अहमदाबाद के निकट दूधेश्वर पर पहुँच गया जहाँ उन्होंने मुझे योग विद्या के गूढ़तम रहस्य तथा अभ्यास बताने की प्रतिज्ञा की थी। उन्होंने अपने वचन को निभाया और इस महान् विज्ञान के अभ्यासात्मक रहस्यों की प्राप्ति के लिए मैं उन महानुभावों का ऋणी हूँ।

इसके भी अनन्तर मुझे ज्ञात हुआ कि राजपूताना के आबू पर्वत के शिखरों पर उनसे भी अधिक पहुँचे हुए तथा विद्वान् योगी रहते हैं। वहाँ से मैंने पुनः यात्रा की तथा अलवदा भवानी आदि प्रसिद्ध तीर्थों पर वह महान् योगी मुझे मिले, जिनकी मैं उत्सुकता पूर्वक तलाश कर रहा था। उनसे भवानी गिरि की चोटी पर योग की पद्धति के विविध विधि विधान सीखे।

सं० १९११ की समाप्ति पर हरिद्वार के कुम्भ के मेले में मैं पहली बार सम्मिलित हुआ, जहाँ बहुत से ऐसे महात्मा और दार्शनिकमहा पुरुष इकट्ठे होते हैं जिनके साधारणतया दर्शन दुर्लभ हैं। जब तक मेले में यात्रियों की भीड़-भाड़ बनी रही मैं चण्डी के जंगल में एकान्त स्थान में रहा और योगाभ्यास करता रहा। यात्री लोगों के हट जाने पर मैं ऋषिकेश चला गया जहाँ कभी-कभी पवित्रात्मा योगियों की संगति में किन्तु प्रायः एकाकी ही योग का अध्ययन और अभ्यास करता रहा।

### टिहरी को प्रस्थान

ऋषिकेश में एकान्त में कुछ समय बिताकर, एक ब्रह्मचारी और दो पहाड़ी साधुओं के साथ मैं टिहरी पहुँच गया यह स्थान साधुओं और राज पण्डितों से परिपूर्ण था। ये लोग विस्तृत पाण्डित्य के कारण राज-पण्डित कहलाते थे। उनमें से एक ने मुझे सायंकालीन भोजन का सादर निमन्त्रण

दिया। निश्चित समय पर उसने मुझे सुविधापूर्वक अपने स्थान पर बुलाने के लिए एक व्यक्ति भेज दिया। ब्रह्मचारी तथा मैं दोनों उस व्यक्ति के साथ गए। किन्तु घर पहुँचने पर हमें एक ब्राह्मण को माँस काटते हुए और अन्दर के कमरे में जाने पर कई ब्राह्मणों को माँस के ढेरों, पशुओं के पिछले भागों की बोटियों तथा पकाए हुए सिरों को सामने रखे बैठे देखकर उद्वेग व त्रास हुआ। घर के स्वामी ने मेरा हार्दिक स्वागत किया, किन्तु बहुत ही संक्षिप्त शब्दों में उनसे अपना शुभ कार्य करते रहने और मेरे कारण से बाधित न होने की प्रार्थना कर मैं उसघर से लौट पड़ा और अपने स्थान पर आ गया। कुछ ही मिनट बाद वह गोमाँस भक्षी पण्डित मेरे स्थान पर आकर वापिस लौटने की प्रार्थना करने लगा। स्वयं को दोषमुक्त करने के यत्न में उस ने कहा कि वे स्वादिष्ट व्यञ्जन मेरी ही खातिर बनाए गए थे। तब मैंने दृढ़ता से कहा कि आपकी याचना व्यर्थ आप मांसाहारी लोग हैं जबकि मैं एक विशुद्ध शाकाहारी हूँ जो मांस को देखते ही बीमार हो जाता है। अगर आप फिर भी भोजन कराने का आग्रह करें तो मेरे लिए कुछ अन्न तथा सब्जी भेज दें, जिन्हें मेरा ब्रह्मचारी पका लेगा। ऐसा करने की प्रतिज्ञा करके वह बहुत परेशान सा हुआ आ वापिस चला गया।

### वाम मार्ग या भारतीय मद्य प्रियता

टिहरी ठहरे हुए मैंने उसी पण्डित से कुछ पुस्तकों तथा निबन्धों के विषय में पूछताछ की। उनकी मृदु पढ़ने के लिए आवश्यकता थी। मैंने पूछा कि कौनसी पुस्तकें अथवा पांडुलिपियाँ उस स्थान पर या कहाँ से प्राप्त की जा सकती हैं। उसने संस्कृत व्याकरण, साहित्य, शब्दकोश, ज्योतिष, तंत्र-साहित्य तथा विधि प्रतिपादक कुछ ग्रन्थों का वर्णन किया। यह जानकर कि ये ग्रन्थ मेरे लिए नवीन थे। मैंने उनकी प्राप्ति के लिए उनसे ही प्रार्थना की। तब वह विद्वान् उद्विष्ट विषय से सम्बन्धित अनेक पुस्तकें लाया। पर ज्यों ही मैंने इन्हें खोला, मेरी दृष्टि इनमें अविश्वसनीय अश्लीलता, और मूल ग्रन्थों के मिथ्या तथा असंगत अनुवाद एवं विवेक शून्यता से परिपूर्ण स्थलों पर पड़ी कि मैं अतीव भयभीत हो गया। इन ग्रन्थों में माता, बहन और पुत्री तथा शूद्री तथा जाति से बाहर निकाली हुई नीच चाण्डालों के साथ भी संभोग करने की खुली आज्ञा है। नंग धडंग होकर पूजा की जाती है। मद्य, मछली, सब प्रकार के जानवरों के मांस के सेवन तथा मुद्रा विषय भोग के अश्लील चित्रों की प्रदर्शनी

का प्रयोग ब्राह्मण से लेकर शूद्र तक करते हैं। और यह स्पष्ट लिखा था कि ये मकार से प्रारम्भ होने वाली पाँचों जीजें (पंचमकार) उदाहरणार्थ मद्य, मीन, मांस, मुद्रा और मैथुनादि सब मोक्ष प्राप्ति के विभिन्न साधन हैं। तन्त्र ग्रन्थों के सूची-पत्रों का अध्ययन करने से मुझे धार्मिक कथित इस घणित साहित्य के लेखकों के कुचक्र तथा दुराचरण का पूर्ण विश्वास हो गया। अतः मैंने इस स्थान को त्याग दिया और श्रीनगर ॐ चला गया।

### धार्मिक स्थानों की यात्रा।

केदारघाट पर स्थित एक मन्दिर में रहते हुए मैं इन तन्त्र ग्रन्थों को स्थानीय पण्डितों से विवाद के अवसर पर हथियार के रूप में प्रयुक्त करता था। वहाँ पर मैं गंगा गिरि नामक एक साधु से परिचित हो गया था। वह जंगल में जिस पर्वत पर रहते थे उसे दिन भर कभी नहीं छोड़ते थे। हमारे परिचय ने मित्रता का रूप धारण कर लिया क्योंकि मैंने शीघ्र ही जान लिया था कि वे पूर्ण रूप से आदर के योग्य थे। साथरहते हुए हमने योग तथा अन्य धार्मिक विषयों पर विचार-विमर्श किया और घनिष्ट प्रश्नोत्तर से मुझे तसल्ली हो गई कि हम दोनों एक दूसरे के लिए नितान्त उपयुक्त थे। मेरे लिए उनकी संगति इतनी आकर्षक थी कि मैं उनके पास दो मास से अधिक ठहरा। इस समय के बीतने के बाद तथा पतभङ्ग ऋतु आ जाने पर मैं अपने साथी दोनों साधुओं तथा ब्रह्मचारी के साथ केदार घाट से अन्य स्थानों की ओर चल पड़ा।

हम रुद्र प्रयाग तथा अन्य नगरों की यात्रा करते हुए अगस्त्यमुनि के आश्रम में आ गये इसके उत्तर में शिवपुरी नामक एक पहाड़ की चोटी है वहाँ पर मैंने शीतकाल के चार मास व्यतीत किये। तत्पश्चात् मैं ब्रह्मचारी और दोनों साधुओं से पृथक् होकर एकाकी तथा अविचल निश्चय से केदार की ओर लौट पड़ा तथा गुप्त काशी पहुँच गया।

### सूक्ष्म व्यवहित विप्रकृष्टदर्शी ॐ योगियों की खोज

मैं वहाँ बहुत थोड़े दिन ठहरा और वहाँ से त्रियुगी नारायण तीर्थ स्थान को चला गया। अपने मार्ग में गौरी कुण्ड नामक जलाशय तथा भीम

ॐ श्री नगर - काशमीर वाला है। वहाँ से लौटते हुए ही योगी राज दयानन्द केदार घाट आये उत्तर काशी से जोचार मील की दूरी पर है। देखो 'आत्मचरित्र की प्रामाणिकता' पृ ६६ —स० स्वामी

ॐ ऐसे योगी जो सूक्ष्म से सूक्ष्म परमाणु, आकाश, आत्मा, परमात्मा को और बहुत ही दूर की—सब ही लोक-लोकान्तरों की, व्यवधान वाली छिपी वस्तुओं को देख सकें। —स० स्वामी

गुफा पर होता गया। कुछ दिनों बाद अपने प्रिय निवास स्थान केदार पर लौट कर मैंने विश्राम किया। वहाँ पर भी कुछ पूजा करने वाले ब्राह्मण साधुजन जिन्हें पण्डे कहते थे तथा जंगम सम्प्रदाय के केदार मन्दिर के भक्त लोग तब तक मेरे साथ ठहरे रहे जब तक कि मेरे पहले साथी ब्रह्मचारी तथा दोनों साधु नहीं लौटे। मैंने एक निश्चित उद्देश्य से उनके रीति रिवाजों तथा क्रिया कलापों का निकट से अध्ययन किया और इन सम्प्रदायों के विषय में जो कुछ भी ज्ञातव्य था—इस सम्प्रदाय के विषय में जानने के बाद मेरे मन में चारों तरफ के सदा बर्फ से ढके रहने वाले पहाड़ों पर जाकर पहुँचे हुए सिद्ध योगियों के दर्शन करने की-जिनके बारे में सुनता रहा पर कभी दर्शन न कर सका। उत्कट इच्छा जागी। मेरा दृढ़ संकल्प था चाहे कुछ भी हो मैं इस बात का पता लगाकर रहूँगा कि वहाँ जैसा मैंने सुना ऐसे सिद्ध योगी हैं अथवा नहीं। किन्तु, पर्वतीय यात्रा की घोर कठिनाइयों तथा अत्यधिक ठण्ड ने मुझे विवश कर दिया कि मैं पहले पर्वतीय जातियों के लोगों से यह पूछ ताछ कर लूँ कि वे इन सिद्धों के विषय में क्या जानते हैं। किन्तु हर जगह मुझे इस विषय में सर्वथा अनभिज्ञ अथवा उपहासास्पद ग्रन्थ विद्वानों से ही भेंट हुई। फलतः इस प्रकार बीस दिन वृथा भ्रमण करके निराश होकर मैं वापिस लौट पड़ा मैं पूर्व की भाँति एकाकी ही था क्यों कि मेरे साथियों ने जो मेरे साथ हो लिए थे शीत की भयंकरता के कारण चलने के दो दिन बाद ही मेरा साथ छोड़ दिया। तब मैं तुंगनाय के शिखर पर चढ़ गया। वहाँ मैंने मूर्तियों तथा स्थानापन्न पुरोहितों से भरे एक मन्दिर को देखा। मैं उसी दिन शीघ्रता पूर्वक शिखर से नीचे उतर आया। मेरे सम्मुख दो मार्ग थे एक पश्चिम की ओर जाता था तथा दूसरा दक्षिण पश्चिमकी ओर मैंने अटकलपच्चू जंगल को जाने वाले मार्ग को चुन लिया और उस पर चढ़ने लगा। शीघ्र ही थोड़ी देर में यह मार्ग मुझे एक घने जंगल में ले गया। जिसमें विषम चट्टानें तथा सूखे हुए जलहीन नाले थे। यह मार्ग एकाएक यहीं समाप्त हो गया। इस प्रकार सब ओर से घिर जाने पर मुझे यह निर्णय करना पड़ा कि मैं ऊपर चढ़ूँ या नीचे उतरूँ शिखर की अधिक ऊँचाई तथा उस ऊबड़-खाबड़ तथा एकदम खड़े पहाड़ पर चढ़ने की भयंकर कठिनाइयों का विचार करके मैंने स्थिर किया कि मेरे चोटी पर पहुँचने से पूर्व रात पड़ जाएगी। अतः उस रात शिखर पर पहुँचता मुझे अस्मभव जान पड़ा काफी कठिनाई से घास तथा

भाड़ियों को पकड़ पकड़ कर मैं सूखेनाले के ऊँचे किनारे पर पहुँच गया। चट्टान पर खड़े होकर मैंने चारों ओर सब ओर व्याप्त निगाह डाली मुझे वहाँ दुर्गम चट्टानों के ऊँचे पहाड़ी, प्रदेश, निबिड जंगल के अतिरिक्त और कुछ भी न दीख पड़ा। जहाँ से कोई मानव नहीं गुजर सकता था। उसी समय सूर्य भी शीघ्रता पूर्वक अस्तावल की ओर जा रहा था अन्धकार शीघ्र ही सब ओर छा जाएगा और तब जल तथा आग जलाने के साधन के बिना मेरी इस जंगल की भयंकर निर्जनता में क्या दशा होगी।

### महन्त बनाने का प्रलोभन

अत्यन्त शान्त एवं वृजान्त हुआ तथा काँटों की तीखी वेदना से, जिन्होंने मेरे शरीर के परिधान को तार-तार कर दिया, मेरे सारे शरीर को घायल तथा पैरों को लंगड़ा कर दिया था, फिर भी मैंने जंगल को पार कर ही लिया और अन्ततः मैं पर्वत की तलहटी में एक मार्ग पर जा पहुँचा। मेरे चारों ओर तथा ऊपर भी अन्धेरा था और तात्कालिक सूझ-बूझ द्वारा राह काटता हुआ यत्न करता रहा कि मैं राह से न भटकूँ अन्ततः मैं बहुत सी भोपड़ियों के पास जा पहुँचा वहाँ के लोगों से यह जानकर कि वह मार्ग ओखी मठ को जाता है मैंने उस ओर कदम बढ़ाये और वहीं रात्रि व्यतीत की। प्रातःकाल पर्याप्त विश्रान्त तथा ताजा होकर मैं गुप्तकाशी को लौटा जहाँ से अगले ही दिन मैं उत्तर की ओर चल पड़ा था। किन्तु उस यात्रा ने मुझे आकृष्ट कर लिया तथा मैं शीघ्र ही पुनः ओखी मठ पहुँच गया और इस मठ के निवासियों के रहनसहन का अध्ययन करने लगा मुझे उस प्रसिद्ध तथा सम्पन्न मठ का परीक्षण करने के लिए पर्याप्त समय मिल गया जो बाहर से साधुता और पवित्रता के आडम्बर से भरा था। मठ के महन्त ने मुझे शिष्य बना कर वहीं रख लेने के लिए मुझे ललचाने का भरपूर यत्न किया। उन्होंने मेरे सामने यह भी प्रलोभन-जिसे उन्होंने चका चौंध करने वाला समझा-रखा एक दिन मुझे उनके लाखों रुपये, वैभव, शक्ति सामर्थ्य एवं अन्ततः उनके महन्त पद का उत्तराधिकार मिल जाएगा। मैंने स्पष्ट उत्तर दिया कि यदि मुझे धन अथवा ज्ञान की लालसा होती तो मैं अपने पिताजी के घर से, जो सब प्रकार के धनधान्य से पूर्ण आपके मठ में किसी भी प्रकार कम आनन्ददायक और आकर्षक नहीं था, छिप कर नहीं भाग निकलता। जिस उद्देश्य ने मुझसे इन सब सांसारिक सम्पदाओं का त्याग करा दिया है उस उद्देश्य का आपको न तो ज्ञान है और

ही उसके लिए आप प्रयत्नशील हैं उसने उस उद्देश्य के विषय में जिज्ञासा की जिसके लिए मैं इतना प्रयत्नशील था। मैंने बताया कि वह उद्देश्य है—रहस्य का ज्ञान, एक सच्चे योगी की वास्तविक कमाई मुक्ति है। जो किसी को अपनी आत्मा की शुद्धि से प्राप्त होती है और दूसरे जैसे कि मानव जाति के प्रति अपने कर्तव्य को निभाना तथा उसको उन्नत करना आदि भी इसके साथ ही चल सकते हैं—जो कि योग साधना के बिना नहीं प्राप्त हो सकते। महन्त ने इस उद्देश्य की सराहना की और कहा कि यह बहुत उत्तम है और अपने साथ कुछ काल तक ठहरने को कहा, किन्तु मैं चुप रहा और कोई उत्तर नहीं दिया। मुझे अपनी खोज में सफलता नहीं मिली थी। दूसरे दिन प्रातः बहुत शीघ्र उठकर मैंने इस धन सम्पन्न मठ को छोड़ दिया तथा जोशी मठ को चला गया। वहाँ दक्षिणात्य तथा महाराष्ट्रिय विद्वान् सन्यासियों, शास्त्रज्ञ तथा सच्चे साधुओं की सत्संगति में मैं कुछ समय ठहरा।

### जोशी मठ के योगी

जोशी मठ में मैं बहुत से योगियों तथा विद्वान् साधुओं से मिला तथा अनेक वाद विवाद द्वारा मैंने योगविद्या और के बारे में भी अधिक सीखा उनसे विछुड़कर मैं बन्नी-नारायण पहुँच गया। उस समय इसके मुख्य महन्त रावल जी नामक एक विद्वान् थे। मैं उनके साथ कुछ दिन रहा। हमारे वेदों तथा दर्शनों पर वाद विवाद हुआ। उनके समीपवर्ती प्रदेश में रहने वाले किसी सिद्ध योगी के विषय में पूछने पर मुझे यह जानकर दुःख हुआ कि उस समय ऐसा कोई योगी वहाँ नहीं था पर उसने सुन रखा था कि वह सिद्ध लोग उस मन्दिर में कभी-कभी स्वभावतः दर्शन के लिये आते हैं मैंने यहाँ दृढ़ निश्चय किया कि मैं योगियों को समस्त देश में विशेषकर पहाड़ों में खोज निकालूँगा।

### योगियों की आगे खोज

एक दिन मैं दिन निकलते ही यात्रा के लिए निकल पड़ा और पर्वत की तलहटी के साथ-साथ चलता हुआ अन्ततः अलकनन्दा नदी किनारे पर पहुँच गया। मुझे इसको पार करने की विशेष इच्छा नहीं हुई क्योंकि मैंने इसके दूसरे तट पर माना नामक विशाल गांव को देखा। अतः मैंने नदी की धारा के साथ पर्वत की तलहटी में जंगल की ओर पग बढ़ाए। पहाड़ियाँ तथा मार्ग भी घनी बरफ से ढके हुए थे और बड़ी भारी कठिनाई के

बाद मैं उस स्थान पर पहुँचा जहाँ पर अलकनन्दा का उद्गम स्रोत है। किन्तु वहाँ पर अपने आपको चारों ओर ऊँची पर्वतमाला से घिरा हुआ पाकर तथा उस स्थान से अपरिचित होने के कारण एक बार तो उसी क्षण मेरी प्रगति अवरुद्ध हो गई क्योंकि शीघ्र ही मार्ग एकाएक बन्द हो गया था तथा मुझे किसी भी दिशा में कोई पगडंडी भा दिखाई नहीं पड़ती थी। मुझे सूझ नहीं रहा था कि आगे क्या किया जाए। किन्तु मैंने नदी को पार करके मार्ग के लिए पूछताछ करने का निश्चय किया। मैं बहुत ही हल्का और पतला कपड़ा पहने हुआ था तथा शीत अत्यधिक और शीघ्र ही असह्य हो गया था। भूख और प्यास का अनुभव होने पर, भूख की प्रतारणा के लिए मैंने एक बरफ का टुकड़ा खा लिया किन्तु भूख शान्त न हुई।

तब मैं नदी पार करने लगा, यह कहीं-कहीं पर बहुत गहरी थी और कहीं कम गहरी—तथापि गहराई एक हाथ से तथा चौड़ाई आठ दस हाथ से ज्यादा न थी। नदी का पाट छोटे-छोटे चुभने वाले हिमखण्डों से भरा था जिनसे मेरे पैर जख्मी हो गये तथा उनसे रक्तस्राव होने लगा अतीव भाग्य से असह्य शीत ने मेरे पैर संज्ञा शून्य कर दिये तथा रक्तस्राव की अधिकता ने मेरे शरीर को चेतना रहित कर दिया। अनेक बार बरफ पर फिसलते हुए मेरे पग डगमगा गए और मैं गिरने लगा और इस प्रकार उसी स्थान पर जमकर मरने वाला हो गया। मैंने इस तत्त्व को जान लिया कि यदि बरफ में औंधे मुँह गिर गया तो मेरे शरीर के जान शून्य होने के कारण मेरा फिर से उठ पाना कठिन होगा किसी प्रकार कठोर उद्यम और भयंकर संघर्ष के बाद मैं दूसरे किनारे पर सुरक्षित पहुँच सका, इस समय मैं जीवित कम था और मृतक अधिक। मैंने शीघ्रता पूर्वक शरीर के ऊपरी भाग को विवस्त्र किया, जो भी वस्त्र मेरे पास थे उन्हें पैरों पर तलवों से घुटनों तक लपेट लिया। तब थका हुआ भूखा-प्यासा तथा चलने में असमर्थ हुआ खड़ा खड़ा किसी अज्ञात सहायता के लिए इधर उधर निहारने लगा यह न जानते हुए कि वह कब और कहाँ अन्ततः चारों ओर अन्तिम दृष्टिपात करने पर मैंने दो पहाड़ी आदिमियों को खड़े हुए देखा जिन्होंने आकर 'काशीसम्बा' कह कर मुझे प्रणाम किया तथा भोजनार्थ अपने घर चलने का आमन्त्रण दिया मुसीबत को मुनकर उन्होंने मुझे सत्यत नामक पवित्र स्थान पर पहुँचाने का भी वचन दिया। किन्तु मैंने चल न

---

❀ यह नाम सतपत या सतोपन्त के नाम से जाना जाता है।

—स० स्वामी

सकने के कारण इनकार कर दिया। उनके बारम्बार अनुरोध करने पर भी मैं दढ़ रहा और उनके साथ जाने के लिए साहस न कर सका जैसा कि वह चाहते थे। उनसे यह कह कर कि मैं मर जाना ठीक समझता हूं मैंने उनकी बातों को सुनने से इनकार कर दिया।

किन्तु उसी समय यह विचार आया कि अच्छा होता यदि मैं वापिस जाकर अपने अध्ययनकार्य में लग जाता, तब तक दोनों व्यक्ति मुझे छोड़कर पहाड़ियों में अदृश्य हो गये। विश्राम करके मैं लौट पड़ा तथा वसुधारा नामक पवित्र तीर्थ पर कुछ मिनट रुक कर मानाग्राम के पास से होता हुआ सायं ८ बजे बट्टीनारायण पहुँच गया।

मुझे देखकर रावल जी तथा दूसरे साथियों ने चकित होकर पूछ-ताछ की कि मैं प्रातःकाल से कहाँ रहा। मैंने उन्हें सारा वृत्तान्त यथार्थ सुना दिया। थोड़ा सा भोजन करके क्षीण हुए बल को प्राप्त किया तथा सो गया। किन्तु प्रातःकाल शीघ्र ही रावल जी से विदा लेकर वापिस रामपुर की यात्रा पर निकल पड़ा। सायंकाल मैं एक उच्च साधु के यहाँ पहुँच गया और वहीं रात्रि बिताई। वह व्यक्ति जीते-जागते महान्तम साधुओं में से एक समझा जाता था और मैंने उनसे धार्मिक विषयों पर परलम्बा वार्तालाप किया अपने निश्चय में और भी अधिक दढ़ होकर मैं वहाँ से चलकर पहाड़ियों तथा जंगलों को पार करता हुआ, चिलकिया घाटी से उतरकर रामपुर पहुँच गया तथा अपनी पवित्रता और विशुद्धता में प्रसिद्ध श्री रामगिरि के निवास स्थान पर ठहर गया। मैंने उन्हें एक असाधारण ढंग का व्यक्ति पाया। वे कभी नहीं सोते थे किन्तु सारी रात-भर स्पष्टतया अपने आप से ही संभाषण करते रहते थे जो कभी-कभी तेज आवाज में भी होता था। कभी-कभी हम तेज चीख—तदुपरान्त रोने की आवाज सुनते थे। यद्यपि उनके कमरे में उनके अतिरिक्त कोई नहीं

---

**ऋमाना** -यत्र तत्र उपलब्ध थियासोफिस्ट की हिन्दी पाण्डुलिपियों में 'मग्नम्' या 'मग्नड्' लिखा है। पाण्डुलिपि खोजी श्री पं० लेखरामजी आर्य मुसाफिर, श्री पं० भगवद्दत्तजी रिसर्चस्कालर, तथा स्वामी सत्यानन्द जी ने अपने-अपने ऋषि के छापे जीवन चरित्रों में यहाँ 'मग्नम्' ही छापा और माना है।

यह स्थान बट्टीनारायण से १३४ मील की दूरी पर कैलाश के मार्ग में है। देखो—आ. प्र. पृ० ६५; तथा पृ० १३१

होता था। अत्यन्त आश्चर्य चकित होकर मैंने उनके चेलों तथा शिष्यों से पूछताछ की किन्तु सबने उनकी आदत ही ऐसी बताई। इसके कारण का वर्णन कोई नहीं कर सका। कुछ समय पश्चात् उनसे बातचीत करके मैं समझ गया कि यह सत्र वस्तुतः क्या था। और मुझे यह स्थिर विश्वास हो गया कि वे सच्चे योग का अभ्यास नहीं कर रहे थे परन्तु उसमें उन्हें आंशिक सफलता प्राप्त थी। यहाँ भी मुझे वह वस्तु, जिसकी मुझे खोज थी, हाथ न लगी।

### योग की पुस्तकें तथा विज्ञान

उन्हें छोड़कर मैं काशीपुर गया और वहाँ से द्रोण सागर जहाँ मैंने सारा शीतकाल व्यतीत किया। वहाँ से मुरादाबाद होता हुआ सम्बल पहुँचा। गङ्ग मुक्तेश्वर को पार करने पर मुझे ज्ञात हुआ कि मैं गंगा के तट पर पुनः आ गया हूँ। उस समय अन्य धार्मिक पुस्तकों के अतिरिक्त मेरे पास शिव सन्ध्या, हठ प्रदीपिका योगबीज और घेरण्ड संहिता थीं जिन्हें मैं अपनी यात्रा में पढ़ा करता था। इनमें से कुछ पुस्तकों में नाड़ी चालन एवं नाड़ी चक्रों का विशुद्ध विवरण था जिसे मैं ग्रहण न कर पाया जिससे अन्त में मुझे उस विवरण की तथ्यता में संदेह हो गया। कुछ समय तक अपने संशयों को निवृत्त करने का यत्न करता रहा, परन्तु मुझे अबसर हाथ न लगा। एक दिन मैंने एक शव को जल पर बहते देखा। यह सुअवसर था और यह मुझ पर निर्भर करता था कि मैं इन पुस्तकों में वर्णित शरीर रचना तथा आंतरिक संस्थानों की सत्यता की परख के द्वारा अपना समाधान प्राप्त करूँ। पुस्तकों को एक तरफ रख कर और वस्त्र उतार कर निश्चय पूर्वक मैं नदी में कूद पड़ा तथा शीघ्र ही शव को निकाल कर उसे किनारे पर रख दिया तथा एक तेज चाकू के द्वारा अपनी पूरी सावधानी के साथ इसे चीर कर खोला। मैंने नाभि से पसलियों तक चीरते हुए हृदय कमल, एवं मस्तिष्क और गले के एक भाग (विशुद्धि चक्र) का परीक्षण किया। मैंने बड़े ध्यानपूर्वक उन्हें पुस्तकीय विवरण से मिलाया किन्तु मिलान खाता न देखकर पुस्तकों को फाड़कर शव के साथ ही बहा दिया। उस समय से मैं धीरे धीरे इस परिणाम पर पहुँचा कि वेदों, उपनिषदों, भात-जल योग सूत्रों और सांख्य सूत्रों को छोड़ कर योग विज्ञान पर लिखा हुआ

सारा कार्य मिथ्या है॥ गंगा तट पर कुछ समय का कालयापन करके मैं फरुखाबाद पहुँचा और फिर खोनजीरम होता हुआ छावनी के पूर्वी मार्ग से सं० १९१२ (ई० १८५५) की समाप्ति पर कानपुर पहुँचा॥

### योगाभ्यास

पाँच मासों में मैं कानपुर और इलाहाबाद के मध्य में अनेक स्थानों पर धूमा भाद्रपद के आरम्भ में मैं मिर्जापुर पहुँच कर असूल जी के आश्रम के निकट लगभग १ मास तक ठहरा, तथा आश्विन के कृष्णपक्ष में नारस पहुँच कर वरुणा तथा गंगा के संगम स्थान पर एक गुफा में जाटिका जो उन दिनों भूमानन्द सरस्वती के अधिकार में थी। वहाँ मैं काकाराम, राजाराम तथा अन्य शास्त्रियों से मिला किन्तु वहाँ केवल १२ दिन ठहरने के पश्चात् जिसकी मुझे खोज थी उसके लिए अपनी यात्राएँ पुनः आरम्भ की\*

॥ ध्वनि यह प्रतीत होती है कि इससे पूर्व काशी में जो तान्त्रिक गुरुओं से तान्त्रिक शास्त्र व हठयोग प्रक्रिया सीखी थी उनसे ऋषि को नितान्त वृणा हो गई विस्तृत योग-प्रकरण को देखने के लिए प्रस्तुत पुस्तक के योगवतण के पृष्ठ संख्या ४८ से ६६ तक देखिये।—स० स्वामी

॥ यहाँ सं० १९१२ या तो मिस प्रिन्ट है या फिर सन् सत्तावन की घटना को तिरोहित करने के लिए लिखा गया है। देखिये आत्मचरित्र की ऐतिहासिकता पृष्ठ सं० ... पर दी हुई। पृ० १३१—स० स्वामी

\*—ये यात्राएँ सं० १९१४ अर्थात् सन् १८५७ के प्रमुख क्रान्ति-कारी, ऋषि के शिष्य नानासाहब को क्रान्ति में सहयोग देने के लिए की गई प्रतीत होती हैं। देखिये—आत्मचरित्र की प्रामाणिकता

पृ० ११३।

तथा रामपाल सिंह C. I. D. की रिपोर्ट—“शोणित तर्पण” में—‘कानपुर के परिसर में गंगा के किनारे मुझे एक सन्न्यासी मिले। तेजस्वी, विशाल और भव्य मूर्ति थी। उनसे बात करने पर उन्होंने मुझे ऐसी दृष्टि से देखा, जैसे वह मेरा पूरा हाल जानते हों। मैंने अपने आपको उनसे कुछ और ही कार्य व्यापार बता दिया। महाराज बोले—‘अपनी मातृ-भूमि के विरुद्ध उसके साथ विश्वासघात करना महापाप है। अतः उन्हें अपने देश द्रोह के काम से हट जाना चाहिये।’ वह स्वामी दयानन्द थे।

—स० स्वामी

शेष टिप्पणी ३०४ पृ. पर देखें।

चण्डालगढ़ में दुर्गाखोड़ के मन्दिर में दस दिन बिताने के उपरान्त चावल खाना संवधा त्यागकर केवल दूध पर रह कर दिन रात योगाभ्यास में निरत रहने लगा ।

### मूर्तिपूजा का ढोंग

दुर्भाग्यवश इन्ही दिनों मुझे भांग पीने की आदत पड़ गई और इसके नशे में चूर रहने लगा एक बार मैं चण्डालगढ़ मन्दिर से चलकर निकट के एक छोटे से गाँव में आया तो मेरा अपने एक पुराने सेवक से साक्षात्कार हुआ । मैं गाँव से थोड़ी दूर पर ही दूसरी ओर बने एक शिवालय के वृक्षों के तले रात्रि व्यतीत करने चला गया । भांग के नशे में मैं गहरी नींद में सो गया और उस रात एक विलक्षण स्वप्न देखा मैंने सोचा कि मैंने स्वप्न में महादेव और पार्वती को देखा जो परस्पर मेरे विषय में बातचीत कर रहे थे । पार्वती महादेव जी से कह रही थीं कि इसका विवाह हो जाना चाहिए किन्तु महादेव जी उसकी बात नहीं मान रहे थे । पार्वती ने भांग की ओर संकेत किया । जागने पर इस स्वप्न से मुझे बड़ा उद्वेग हुआ । इस समय वर्षा हो रही थी अतः मैंने मन्दिर के प्रमुख द्वार के सामने वाले वरामदे में आश्रय लिया जहाँ पर नन्दी ब्रैल की विशाल मूर्ति थी । मैंने वस्त्रों तथा पुस्तकों को उसकी पीठ पर रखा और बैठकर ध्यान किया तभी सहसा उस मूर्ति में जो अन्दर से पोली थी मैंने दृष्टिपात किया और एक व्यक्ति को उसमें छिपा हुआ देखा । मैंने उसकी ओर हाथ बढ़ाया, निश्चय ही वह भयभीत हो गया और छिपने के स्थान से उछल कर बाहर निकला और गाँव की ओर दौड़ गया । मैं मूर्ति के अन्दर घुस गया तथा शेष रात्रि भर वहीं सोता रहा । प्रातः काल एक बुढ़िया आयी और उस नान्दी की पूजा की जिसके अन्दर मैं बैठा था । पश्चात् वह लौटी और

—राजस्थान के प्रसिद्ध इतिहास लेखक पृथ्वी सिंह मेहता ने १९५७ में तात्याटोपे और स्वामी दयानन्द के पारस्परिक क्रान्तिकारी सम्बन्धों का उल्लेख किया है । ऋषि नर्बदा तट पर विचरण कर रहे थे । तात्या टोपे कई बार नर्मदा तट पर गए और लौटे । बातचीत अज्ञात है । पीछे स्वामीजी कानपुर, बिठूर, भांसी आदि स्थानों पर गए ।

—आर्यमित्र ११ अंक० १९७१

❀ प्रतीत होता है सन् ५७ की क्रान्ति में ब्रिटिश अत्याचारों से विषण्ण होकर स्वामी जी भांग पीने लगे होंगे । —स० स्वामी

गुड़ तथा एक बर्तन में दही लाई जिसे उसने मुझे देवता समझकर भेंट किया और चाहा कि उसे स्वीकार करूँ और भोग लगाऊँ। मैंने उसे निराश नहीं किया और भूखे होने के कारण सब खा गया। दही बहुत खट्टा था अतः उसने भाँग की मादकता को हर कर नशे के सत्र चिन्ह दूर कर दिये इससे मुझे बड़ा सुख मिला।

### नर्मदा के जंगल

इस घटना के पश्चात् मैंने पर्वतों व नर्मदा के उद्गम स्थान को और अपनी यात्रा जारी रखी। ॐ मैंने एक बार भी मार्ग नहीं पूछा तथा निरन्तर दक्षिण की ओर बढ़ता रहा। शीघ्र ही, मैं घने जंगलों से आवृत एक निर्जन स्थान में आ गया जहाँ विषम अन्तर पर अलग २ बनी हुई कुटिया जब कभी झाड़ियों में दीख पड़ती थीं। एक ऐसे ही स्थान पर मैंने थोड़ा दूध पिया और आगे बढ़ा किन्तु लगभग आधा मील आगे जाकर ही मेरा मार्ग अवरोध हो गया। चौड़ा मार्ग एकाएक अदृश्य हो गया और अनेक छोटे २ मार्ग दिखाई देने लगे जो न जाने कहाँ जा रहे थे। शीघ्र ही, मैं एक जंगली बेरियों तथा गहरी और ऊँची घास वाले एक भयावह जंगल में आ निकला। जिसमें किसी मार्ग का कोई चिन्ह न था। अचानक एक बड़ा काला रीछ मेरे सामने आया। उसने भयंकर गर्जन की और पिछले पैरों पर खड़ा होकर मुझे भकोपने के लिये अपना विस्तृत मुँह खोला। मैं कुछ क्षण तो निश्चल खड़ा रहा कि धीरे २ अपनी पतली छड़ी ऊपर उठाई। वह रीछ भयभीत होकर भाग गया। इसकी गर्जन इतनी जोर से हुई थी कि वे गाँव वाले जिन्हें मैं छोड़कर आया था। इसे सुनकर बड़ी २ लाठियाँ तथा कुत्तों के साथ मेरी सहायता के लिये दौड़े। उन्होंने मुझे उन ही के साथ लौट चलने का प्रबल आग्रह किया और बतलाया कि यदि मैं आगे बढ़ा तो कठिनतम खतरों में पड़ सकता हूँ कारण कि इन पहाड़ियों में रोड़ों, भैंसों हाथियों बोरों तथा दूसरे भयंकर जन्तुओं के निवास स्थान हैं मैंने उनसे कहा 'आप मेरी सुरक्षा की चिन्ता न करें क्योंकि मैं सुरक्षित हूँ।

ॐ यह यात्रा बनारस की यात्रा के पीछे नर्मदा और आवृत पर्वत के योगाभ्यास के उपरान्त नर्मदा की दूसरी यात्रा है। देखिये पं० लेखराम लिखित महर्षि दयानन्द का जीवन चरित पृ० १३१। विवरण के लिये देखें आत्मचरित्र पृ० १२८ मार्ग न पूछना भी यही प्रमाणित कर रहा है।

—स० स्वामी

मैं नर्मदा का स्रोत देखने के लिए उत्सुक था तथा किसी भी खतरे के भय से अपना निश्चय नहीं बदल सकता था, तब अपनी चेतावनियों को निरर्थक जानकर तथा मुझे 'आत्म सुरक्षा के लिये मेरी छड़ी से मोटी एक लाठी दे कर वे चले गए। जिसे मैंने उनके जाते ही तत्काल फेंक दिया।

### अरण्य जीवन

उस दिन मैं खूब अन्धेरा हो जाने तक अविश्राम रूप से यात्रा करता रहा। कई कई घण्टे तक तो मुझे अपने चारों ओर दूर दूर तक कोई गांव कोई अकेली भोंपड़ी, बस्ती या मनुष्य का भी निशान दिखाई न दिया प्रत्युत केवल मात्र जंगली हाथियों के द्वारा भूमि पर गिराये हुए उखाड़े हुए अथवा तोड़ मरोड़ दिए गए वृक्षों के झुंड ही दिखाई देते रहे। आगे चलकर मैंने स्वयं को निबिड़ तथा अलंघनीय जंगल में पाया जो बेरियों तथा अन्य कांटेदार भाड़ियों से भरा था। पहले तो मुझे इनसे अपने बचाव का कोई उपाय नहीं सूझा। कभी पेट के बल सरकते हुए और कहीं घुटनों के बल खिसकते हुए मैंने किसी प्रकार वस्त्र और चमड़ी के छेदन तथा रक्तस्राव एवं थकावट के मूल्य पर इस नई बाधा को पार किया इस समय तक घना अन्धेरा हो गया था, यद्यपि यह सकावट थी—मेरा आगे बढ़ना नहीं रुका। मैं तब तक आगे बढ़ता रहा जब तक कि मैं सघन पेड़-पौधों वाली और मनुष्यों की बस्तियों से युक्त ऊँची-ऊँची पहाड़ियों तथा चट्टानों के प्रांगण में नहीं पहुँच गया। शीघ्र ही, मैंने कुछ भोंपड़ियों को देखा जिनके चारों ओर गोबर के ढेर पड़े थे। साथ ही स्वच्छ जल वाली एक छोटी सी जलधारा के किनारे एक बकरियों का झुंड चर रहा था। दीवारों की दरारों में से निकल कर प्रकाश की रेखाएँ मानो आने वालों का स्वागत कर रही थीं। आगे न जाकर वहीं पर रात बिताने के संकल्प से मैंने एक भारी वृक्ष के नीचे आश्रय लिया जो एक भोंपड़ी को भी ढाँप रहा था। अपने बहते खून, पावों तथा हाथ मुँह को धोकर मैं कठिनाई से प्रार्थना करने बैठा ही था, कि मेरा ध्यान एक ढोल की ऊँची आवाज ने भंग कर दिया। तुरन्त ही मैंने देखा कि स्त्री पुरुषों और बच्चों का एक जलूस अपनी गौओं तथा बकरियों सहित भोंपड़ियों से निकलकर किसी धार्मिक पर्व की तैयारी कर रहा है। मुझे परदेशी जानकर वे सब मेरे चारों ओर इकट्ठे हो गये। तब एक बूढ़े आदमी ने आगे आकर मुझसे पूछा कि मैं कहाँ से आया हूँ। मैंने उन्हें बताया कि मैं बनारस से आया हूँ और

नर्मदा स्रोत की यात्रा पर जा रहा हूँ। इस उत्तर को सुनकर वे सब मुझे प्रार्थना करने के लिये छोड़कर आगे चले गये। किन्तु आधे घंटे बाद ही उनका मुखिया दो पहाड़ी आदमियों को साथ लेकर आया और मेरे पास बैठ गया। वह मुझे उनकी भोंपड़ियों पर आमन्त्रित करने के लिए प्रतिनिधि के रूप में आया था। किन्तु पूर्व की भाँति मैंने आमंत्रण को अस्वीकार कर दिया (क्योंकि वे लोग मूर्तिपूजक थे)। इस पर उसने मेरे निकट खूब आग जलाने का आदेश दिया तथा सुरक्षा के लिये दो आदमी नियुक्त कर दिये। यह जानकर कि मैं भोजन में केवल दूध लेता हूँ उस दयालु मुखिया ने मेरा कमण्डल मांगा और इसे दूध से भर लाया जिसमें से थोड़ा दूध मैंने उसी रात को पी लिया। तब वह मुझे दो पहरेदारों की सुरक्षा में छोड़कर चला गया। उस रात को मैं उषाकाल तक गहरी नींद में सोया उठकर ध्यानादि से निवृत्त होने पर मैंने भावी घटनाओं के लिये स्वयं को तैयार किया।

(यहाँ आत्मचरित्र समाप्त होता है—‘थियोसाफिस्ट’)

---

‘सत्यार्थ प्रकाश’ के पं० दुर्गाप्रसाद कृत, अंग्रेजी अनुवाद (१९०८ में प्रकाशित) में यह आत्मचरित्र ‘थियोसाफिस्ट’ पत्रिका से उद्धृत किया है। यह मूलतः अंग्रेजी में है। बड़ी खोज के बाद इस सत्यार्थ प्रकाश की एक प्रति श्री नारायण स्वामी आश्रम के पुस्तकालय से मिली।

— स० स्वामी

# The Autobiography & travels of Swami Dayanand Saraswati

It was in a Brahmin family of the Oudichya caste in a town belonging to the Rajah of Morwee, in the province of Kathiawar, that in the year of Samvat, 1881, (1924 A. C.) I, now known as Dayanand Saraswati, was born. If I have from the first refrained from giving the names of my father and of the town in which my family resides, it is because I have been prevented from doing so by my duty. Had any of my relatives heard again of me, they would have sought me out. And then, once more face to face with them, it would have become incumbent upon me to follow them home. I would have to touch money again,<sup>1</sup> serve them, and attend to their wants. And thus the holy work of the Reform, to which I have wedded my whole life, would have irretrievably suffered through my forced withdrawal from it.

## Education

I was hardly five years of age when I began to study the Devanagari characters, and my parents and all the elders commenced training me in the ways and practices of my caste and family; making me learn by rote the long series of religious hymns, mantras, stanzas and commentaries. And I was but eight when I was invested with the sacred Brahminical cord (triple thread), and taught Gayatri Sandhya with its practices, and Yajur Veda Sanhita preceded by the study of the Rudradhyaya.<sup>2</sup> As my family belonged to the Shiva sect,

- 
1. No Swami or Sanyasi touches money, or personally transacts any monetary business.
  2. Rudradhyaya is a chapter about Rudra (a name of Shiva).

their greatest aim was to get me initiated into its religious mysteries; and thus I was early taught to worship the uncouth piece of clay representing Shiva's emblem, known as the Parthiwa Lingam. But as there is a good deal of fasting and various hardships connected with this worship, and I had the habit of taking early meals, my mother, fearing for my health, opposed my daily practicing of it. But my father sternly insisted upon its necessity, and this question finally became a source of everlasting quarrels between them. Meanwhile, I studied the Sanskrit grammar, learned the Vedas by heart and accompanied my father to the shrines, temples, and places of Shiva worship. His conversation ran invariably upon one topic; the highest devotion and reverence must be paid to Shiva, his worship being the most divine of all religions. I went on thus till I had reached my fourteenth year, when having learned by heart the whole of the Yajur Veda Samhita, parts of other Vedas, of the Shabda Rupavali and the grammar, my studies were completed.

### Vigil

As my father's was a banking house and he held more-over the office-hereditary in my family—of a Jamadar,<sup>1</sup> we were far from being poor, and things, so far, had gone very pleasantly. Wherever there was a Shiva puran to be read and explained, there my father was sure to take me along with him; and finally, unmindful of my mother's remonstrances, he imperatively demanded that I should begin practicing Parthiwa Puja.<sup>2</sup> When the great day of gloom and fasting—called Shivaratree—had arrived, this day following on the 13th of Vadi of Magh.<sup>3</sup> My father regardless of the

1. The office of 'Jamadar' answers to that of a town Revenue Collector, combining that of a Magistrate at the same-time.
2. Parthiwa Puja is the ceremony connected with the worship of a lingam of clay—the emblem of Shiva.
3. The eleventh month of the Hindi year.

protest that my strength might fail, commanded me to fast, adding that I had to be initiated on that night into the sacred legend, and participate in that night's long vigil in the temple of Shiva. Accordingly, I followed him along with other young men, who accompanied their parents. This vigil is divided into four parts, called praharas, consisting of three hours each. Having completed my task, namely, having sat up for the first two praharas till the hour of midnight, I remarked that the Pujaris, or temple disservants, and some of the lay devotees, after having left the inner temple, had fallen asleep outside. Having been taught for years that by sleeping on that particular night, the worshipper lost all the good effect of his devotion, I tried to refrain from drowsiness by bathing my eyes now and then with cold water. But my father was less fortunate. Unable to resist fatigue, he was the first to fall asleep, leaving me to watch alone.

### Reflections on Idolatry

Thoughts upon thoughts crowded upon me, and one question arose after the other in my disturbed mind. Is it possible,—I asked myself—that this semblance of man, the idol of a personal God that I see bestriding his bull before me, and who, according to all religious accounts, walks about, eats, sleeps and drinks; who can hold a trident in his hand, beat upon his dumroo (drum), and pronounce curses upon men,—is it possible that he can be the Mahadeva, the Great Deity, the same that is invoked as the Lord of Kailash,<sup>1</sup> the Supreme Being and the Divine hero of all the stories we read of him in his Puranas (Scriptures) ? Unable to resist such thoughts any longer, I awoke my father, abruptly asking him to enlighten me to tell me whether this hideous emblem of Shiva in the temple was identical with the Mahadeva (Great God) of the Scriptures, or something else. "Why do you ask it ?" said my father. "Because," I answered, "I feel it

- 
1. A mountain peak of the Himalaya, where Shiva's heaven is believed to be situated.

impossible to reconcile the idea of an Omnipotent, living God, with this idol, which allows the mice to run over its body, and thus suffers its image to be polluted without the slightest protest." Then my father tried to explain to me that this stone representation of the Mahadeva of Kailash, having been consecrated by the holy Brahmins, became, in consequence, the God himself, and is worshipped as such; adding that as Shiva cannot be perceived personally in this Kali-Yug—the age of mental darkness,—we hence have the idol in which the Mahadeva of Kailash is worshipped by his votaries; this kind of worship is pleasing to the great Deity as much as if, instead of the emblem, he were there himself. But the explanation fell short of satisfying me. I could not, young as I was, help suspecting misinterpretation and sophistry in all this. Feeling fain with hunger and fatigue, I begged to be allowed to go home. My father consented to it, and sent me away with a Sepoy, only reiterating once more his command that I should not eat. But when, once at home, I had told my mother of my hunger, she fed me with sweetmeats, and I fell into a profound sleep.

### Decision

In the morning, when my father returned and learned that I had broken my fast, he felt very angry. He tried to impress me with the enormity of my sin; but do what he could, I could not bring myself to believe that idol and Mahadeva were one and the same God, and therefore, could not comprehend why I should be made to fast for and worship the former. I had, however, to conceal my lack of faith, and bring forward as an excuse for abstaining from regular worship my ordinary study, which really left me little or rather no time for any thing else. In this I was strongly supported by my mother, and even by my uncle, who pleaded my cause so well that my father had to yield at last and allow me to devote my whole attention to my studies. In consequence of this, I

extended them to "Nighantu,"<sup>1</sup> "Nirukta"<sup>2</sup> "Purvamimamsa,"<sup>3</sup> and other Shastras, as well as to "Karmakand" or the Ritual.

### Renunciation

There were besides myself in the family two younger sisters and two brothers, the youngest of whom was born when I was already sixteen. On one memorable night, as we were attending a nautch<sup>4</sup> festival at the house of a friend, a servant was despatched after us from home, with the terrible news that my sister, a girl of fourteen, had been just taken ill with a mortal disease. Notwithstanding every medical assistance, my poor sister expired within four ghatikas<sup>5</sup> after we had returned. It was my first bereavement, and the shock my heart received was great. While friends and relatives were sobbing and lamenting around me, I stood like one petrified, and plunged in a profound reverie. It resulted in a series of long and sad meditations upon the instability of human life. 'Not one of the beings that ever lived in this world could escape the cold hand of death'—I thought; I, too, may be snatched away at any time and die. Whither, then, shall I turn for an expedient to alleviate this human misery, connected with our death bed; where shall I find the assurance of, and means of attaining Muktee, the final bliss? It was there and then, that I came to the determination that I must find it, cost whatever it may, and thus save myself from the untold miseries of the dying moments of an unbeliever. The ultimate result of such meditations was to make me violently break, and for ever, with the mummeries of external mortification and penances, and the more to appreciate the inward efforts of the soul. But I kept my determi-

1. A Vedic vocabulary.
2. Another treatise on the Vedic terminology.
3. One of the six systems of philosophy by Jaimini, explanatory of Vedic doctrines.
4. Singing and dancing by professional women.
5. About half an hour.

nation secret, and allowed no one to fathom my innermost thoughts. I was just eighteen then. Soon after, an uncle, a very learned man and full of divine qualities,—one who had shown for me the greatest tenderness, and whose favourite I had been from my birth, expired also; his death leaving me in a state of utter dejection, and with a still profounder conviction settled in my mind that there was nothing worth living for or caring for in a worldly life.

### Obstacles

Although I had never allowed my parents to perceive what was the real state of my mind, yet I had been imprudent enough to confess to friends how repulsive seemed to me even the idea of a married life. This was reported to my parents, and they immediately determined that I should be betrothed at once, and the marriage solemnity performed as soon as I should be twenty.

Having discovered their intention, I did my utmost to thwart their plans. I caused my friends to intercede on my behalf, and they pleaded my cause so earnestly with my father that he promised to postpone my betrothal till the end of that year. I then began entreating him to send me to Benares, where I might complete my knowledge of Sanskrit grammar, and study astronomy and physics, until I had attained a full proficiency in these difficult sciences. But this time it was my mother who violently opposed my wishes. She declared that I should not go to Benares, as whatever I might feel inclined to study, could be learned at home as well as abroad; that I knew enough as it was, and had to be married anyhow before the coming year; as young people through an excess of learning were apt to become too liberal and free sometimes in their ideas. I had no better success in that matter with my father. For, on the contrary, no sooner had I reiterated the favour I begged of him, and asked that my betrothal should be postponed until I had returned from Benares a scholar, proficient in arts and sciences, that my mother decla-

red that in such a case she would not consent even to wait till the end of the year, but would see that my marriage was celebrated immediately. Perceiving, at last, that my persistence only made things worse, I desisted, and declared myself satisfied with being allowed to pursue my studies at home, provided I was allowed to go to an old friend, a learned pandit, who resided about six miles from our town in a village belonging to our Jamadaree. Thither then, with my parent's sanction, I proceeded, and placing myself under his tuition, continued for some time quietly with my study. But while there, I was again forced into a confession of the insurmountable aversion I had for marriage. This went home again. I was summoned back at once, and found upon returning that everything had been prepared for my marriage ceremony. I had entered upon my twenty-first year, and so had no more excuses to offer. I now fully realized that I would neither be allowed to pursue my studies any longer, nor would my parents ever make themselves consenting parties to my celibacy. It was when driven to the last extremity that I resolved to place an eternal barrier between myself and marriage.

### Flight

On an evening of the year Samvat 1903, without letting any one this time into my confidence, I secretly left my home, as I hoped, for ever. Passing the first night in the vicinity of a village about eight miles from my home, I arose three hours before dawn, and before night had again set in. I had walked over thirty miles, carefully avoiding the public thoroughfare, villages, and localities, in which I might have been recognized. These precautions proved useful to me, as on the third day after I had absconded, I learned from a government officer that a large party of men, including many horsemen, were diligently roving about in search of a young man from the town of—who had fled from his home. I hastened further on to meet with other adventures. A party of begging Brah-

mins had kindly relieved me of all the money I had with me, and made me part even with my gold and silver ornaments, rings, bracelets, and other jewels, on the plea that the more I gave away in charities, the more my self-denial would benefit me in the after-life. Thus, having parted with all I had, I hastened on to the place of residence of a learned scholar, a man named Lala Bhagat, of whom I had much heard on my way from wandering Sanyasis and Bairagees (religious mendicants). He lived in the town of Sayale, where I met with a Brahmachari who advised me to join at once their holy order, which I did.

### **Join'ng the Holy Order**

After initiating me into his order and conferring upon me the name of Shuddha Chaitanya, he made me exchange my clothes for the dress worn by them—a reddish-yellow garment. From thence, and in this new attire, I proceeded to the small principality of Kouthakangda situated near Ahmedabad, where, to my misfortune, I met with a Bairagi, a resident of a village in the vicinity of my native town, and who was well acquainted with my family. His astonishment was as great as my perplexity. Having naturally enquired how I came to be there, and in such an attire, and learned of my desire to travel and see the world, he ridiculed my dress and blamed me for leaving my home for such an object. In my embarrassments he succeeded in getting himself informed of my future intentions. I told him of my desire to join in the Mella<sup>1</sup> of Kartik, which was to be held that year at Siddhpore, and that I was on my way to it. Having parted with him, I proceeded immediately to that place, and took my abode in the temple of Mahadeva at Neelkantha, where Dandi Swami and other Brahmacharis already resided. For a time, I enjoyed their society unmolested, visiting a number of learned scholars and professors of divinity who had come to the Mella, and associating with a number of holy men.

---

1. Mella is generally a religious gathering.

### Severance of family Tie

Meanwhile, the Bairagi, whom I had met at Kouthakangda, had proved treacherous. He had despatched a letter to my family, informing them of my intentions and pointing to my whereabouts. In consequence of this, my father had come down to Siddhpore with his Sepoys, traced me step by step in the Mella, learning something of me wherever I had sat among the learned pandits, and finally, one fine morning appeared suddenly before me. His wrath was terrible to behold. He reproached me violently, accusing me of bringing an eternal disgrace upon his family. No sooner had I met his glance, though knowing well that there would be no use in trying to resist him, I suddenly made up my mind how to act. Falling at his feet with joined hands, I entreated him in supplicating tones to appease his anger. I had left the home through bad advice, I said; I felt miserable, and was just on the point of returning home, when he had providentially arrived; and now I was willing to follow him home again. Notwithstanding such humility, in a fit of rage he tore my yellow robe into shreds, snatched at my tumba,<sup>1</sup> and, wresting it violently from my hand, flung it far away; pouring upon my head at the same time a volley of bitter reproaches and going so far as to call me a matricide. Regardless of my promises to follow him, he gave me in the charge of his Sepoys, commanding them to watch me night and day, and never leave me out of their sight, for a moment.

### Conversion to Vedant

But my determination was as firm as his own. I was bent on my purpose and closely watched for my opportunity of escaping. I found it on the same night. It was three in the morning, and the Sepoy, whose turn it was to watch me, believing me asleep fell asleep in his turn. All was still; and so, softly rising and taking along with me a tumba full of water, I crept out, and must have run over a mile before my

---

1. A dried gourd to hold water.

absence was noticed. On my way, it espied a large tree, whose branches were overhanging the roof of a pagoda; on it I eagerly climbed, and, hiding myself among its thick foliage upon the dome, awaited what fate had in store for me. About 4 in the morning, I heard and saw through the apertures of the dome, the Sepoys enquiring after me, and making a diligent search for me inside as well as outside the temple. I held my breath and remained motionless, until, finally believing they were on the wrong track, my pursuers reluctantly retired. Fearing a new encounter, I remained concealed on the dome the whole day, and it was not till darkness had again set in that, alighting, I fled in an opposite direction. More than ever I avoided the public thoroughfares, asking my way of people as rarely as I could, until I had again reached Ahmedabad, whence I at once proceeded to Baroda. There I settled for some time; and at Chetan Math (temple) I held several discourses with Brahmanand and a number of Brahmancharis and Sanyasis upon the Vedanta philosophy. It was Brahmanand and other holy men who established to my entire satisfaction that Brahm, the Deity, was no other than my own Self-my Ego, I am Brahm, a portion of Brahm; Jiv (Soul) and Brahm, the Deity being one and the same. Formerly, while studying Vedanta, I had come to this opinion to a certain extent, but now the important problem was solved, and I gained the certainty that I was Brahm.<sup>9</sup>

### Study of Vedant

At Baroda learning from a Benares woman that a meeting of the most learned scholars was to be held at a certain locality, I repaired thither at once; visiting a personage known as Satchidanand Paramhansa, with whom I was permitted to discuss upon various scientific and metaphysical subjects. From him I learned also, that there were a number of great

1. On the second thought the Swami perceived the absurdity of this doctrine and wrote a book, called Vedant Dhwant Nivaram in refutation of Vedant.—T e.i. In Kashi.

Sanyasis and Brahmacharis who resided at Chanoda Kanyali. In consequence of this, I repaired to that place of sanctity on the Banks of the Nerbuddah, and there at last met for the first time with real Dikshits, or initiated Yogis, and such Sanyasis as Chidashrama and several other Brahmacharis. After some discussion, I was placed under the tuition of one Parmanand, and for several months studied "Vedantsar," "Arya Harimihir Totak "Vedant Paribhasa," and other philosophical treatises. During this time, as a Brahmachari I had to prepare my own meals, which proved a great impediment to my studies. To get rid of it, I therefore concluded to enter if possible into the 4th Order of the Sanyasis.<sup>3</sup> Fearing,

1. Sanyas. There are different conditions and orders prescribed in the Shastras, (1) Brahmachari—one who leads simply a life of celibacy, maintaining himself by begging while prosecuting his studies; (2) Grahastha—one who leads a married but a virtuous life; (3) Vanaprastha—one who lives the life of a hermit; (4) Sanyas or Chaturthashrama—this is the highest of the four; into which members of either of the other three may enter, the necessary conditions for it being the renunciations of all worldly consideration. Following are the four different successive stages of this life : (A) Kuteechara;—living in a hut, or in a desolate place, and wearing a red-ochre coloured garment, carrying a three-knotted bambo roal, and wearing the hair in the centre of the crown of the head, having the sacred thread, and devoting oneself to the contemplation of Parabrahma; (B) Bahudaka—one who lives quite apart from his family and the world, maintains himself on alms collected at seven houses, and wears the same kind of reddish garment; (C) Hansa—the same as in the preceding case, except the carrying of only a one-knotted bamboo; (D) Paramhansa—the same as the others; but the ascetic wears the sacred thread, and his hair and beard are quite long. This is the highest of all these orders. A Paramhansa who shows himself worthy, is on the very threshold of becoming a Diksheet.

more over, to be known under my own name, on account of my family's pride and well aware that once received in this order I was safe, I begged of a Dekkani pandit, a friend of mine, to intercede on my behalf with a Diksheets—the most learned among them, that I might be initiated into that order at once. He refused, however, point blank to initiate me, urging my extreme youth. But I did not despair. Several months later, two holy men, a Swami and a Brahmachari, came from the Dekan, and took up their abode in a solitary, ruined building in the midst of a jungle, near Chanoda and about two miles distant from us. Profoundly versed in the Vedant philosophy, my friend the Dekkani pandit, went to visit them, taking me along with him. A metaphysical discussion following brought them to recognize in each other Diksheets of a vast learning. They informed us that they had arrived from "Shringeri Math," the principal convent of Shankaracharya, in the south, and were on their way to Dwarka. To one of them Parnanand Saraswati, I got my Dekkani friend to recommend me particularly, and state, at the same time, the object I was so desirous to attain and may difficulties. He told him that I was a young Brahmachari, who was very desirous to pursue his study in metaphysics unimpeded; that I was quite free from any vice or bad habits for which fact he vouchsafed; and that, therefore, he believed me worthy of being accepted in this highest probationary degree, and initiated me into the 4th order of the Sanyasis; adding that thus I might be materially helped to free myself from all worldly obligations, and proceed untrammelled in the course of my metaphysical studies. But this Swami also declined at first. I was too young, he said. Besides, he was himself a Maharashtra, and so he advised me to appeal to a Gujrati Swami. It was only when fervently urged on by my friend, who reminded him that Dekkani Sanyasis can initiate even Gowdas, and that there could exist no such objection in my case as I had been already accepted, and was one of

the five Dravids that he consented. And on the third day following he consecrated me into the order, delivering unto me a Dand<sup>१</sup> and naming me Dayanand Saraswati. By the order of my initiator and my proper desire. I had to lay aside the emblematical bamboo—the Dand, renouncing it for a while, as he ceremonial performances connected with it, would only interfere with unimpeded progress of my studies.

## TRAVELS

### Pursuit of Yoga

After the ceremony of initiation was over they left us, and proceeded to Dwarka, For some time I lived at Chanoda Kanyali as a simple Sanyasi. But upon hearing that at Vyasashram there lived a Swami whom they called Yoganand, a man thoroughly versed in Yoga, to him I addressed myself as an humble student, and began learning from him the theory as well as some of the practical modes of the science of Yoga (or Yoga Vidya). When my preliminary tuition was completed, I proceeded to Chhinour, as on the outskirts of this town lived Krishna Shastree, under whose guidance I perfected myself in the Sanskrit grammar, and returned to Chanoda where I remained for some time longer. Meeting there to Yogis—Jwalanaud Pooree and Shivanand Giree, I practiced Yoga with them also, and we all three held together many a dissertation upon the exalted science of Yoga; until finally, by their advice, a month after their departure, I went to meet them in the temple of Doodheshwar, near Ahmedabad, at which place they had promised to me the final secrets and modes of attaining Yoga Vidya. They kept their promise, and it is to them that I am indebted for the acquirement of the practical portion of that great science. Still later, it was divulged to me that there were many far higher and more learned Yogis than those I had hitherto met yet not the highest still—who resided on the peaks of the mountain of Aboo, in Rajputana. Thither then I travelled again, to visit such noted places of sanctity as the Alvada Bhawance and others; encountering, at

---

१. The three and seven knotted bamboo of the Sanyasis given to them as a sign of power after their initiation.

last, those whom I so eagerly sought for, on the peak of Bhawanee Giree, and learning from them various other systems and modes of Yoga. It was in the year of Samvat 1911, that I first joined in the Kumbh Mella at Hardwar, where so many sages and divine philosophers meet, often unperceived, together. So long as the Mella congregation of pilgrims lasted. I kept practicing that science in the solitude of the jungle of Chandee ; and after the pilgrims had separated, I transferred myself to Rishikesh, where sometimes in the company of good and pure Yogis and Sanyasis, oftener alone, I continued in the study and practice of Yoga.

### Visit to Tehri

After passing a certain time in solitude, on the Rishikesh, a Brahmachari and two mountain ascetics joined me, and we all three went to Tehri. The place was full of ascetics and Raj (Royal) pandits—so called on account of their great learning. One of them invited me to come and have dinner with him at his house. At the appointed hour he sent a man to conduct me safely to his place, and both the Brahmachari and myself followed the messenger. But what was our dismay upon entering the house, to first see a Brahmin preparing and cutting meat, and then, proceeding further into the interior apartments, to find a large company of pandits seated with a pyramid of flesh, rump-steaks, and dressed-up heads of animals before them ! The master of the house cordially invited me in ; but, with a few brief words—begging them to proceed with their good work and not to disturb themselves on my account, I left the house and returned to my own quarters. A few minutes later the beef eating pandit was at my side praying me to return, and trying to excuse himself by saying that it was on my account that the sumptuous viands had been prepared ! I then firmly declared to him that it was all useless. They were carnivorous, flesh-eating men, and myself a strict vegetarian, who felt sickened at the very sight of meat. If he would insist upon providing me with food, he might do so by sending me a few provisions of grain and vegetables which my Brahmachari would prepare for me. This he promised to do, and then, very much confused, retired,

### Wam Marg or Indian Bacchanalianism

Staying at Tehri for some time, I inquired of the same

pandit about some books and learned treatises I wanted to get for my instruction ; what books and manuscripts could be procured at that place, and where. He mentioned some works on Sanskrit grammar, classics, lexicographies, books on astrology, and the Tantras—or ritualistics. Finding that the latter were the only ones unknown to me. I asked him to procure the same for me. There upon the learned man brought to me several works upon this subject. But no sooner had I opened them, than my eye fell upon such an amount of incredible obscenities, mistranslations, misinterpretations of text, and absurdity, that I felt perfectly horrified. In this Ritual, I found that incest was permitted with mothers, daughters, and sisters (of the shcemaker's caste) ; as well as among the Pariahs of the outcastes,—and worship was performed in nude state. Spirituous liquors, fish, and all kinds of animal food, and Moodra (exhibition of indecent images) were allowed, from Brahmin down to Mang. And it was explicitly stated that all those five things of which the name commences with the nasal as for instance, Madya(intoxicating liquor), Meen (fish), Mands (flesh), Moodra, and Maithoon (coition) were so many means for reaching muktee (Salvation) ! By actually reading the whole contents of the Tantras I fully assured myself of the craft and viciousness of the authors of this disgusting literature which is regarded as Religious ! I left the place and went to Shreenagar.

### Visit to Religious Places

Taking up my quarters at a temple on Kedar Ghat, I used these Tantras as weapon against the local pandits, whenever there was an opportunity for discussion. While there, I became acquainted with a Sadhoo, named Ganga Giri, who by day never left his mountain where he resided in a jungle. Our acquaintance resulted in friendship as I soon learned how entirely worthy he was of respect. While together, we discussed Yoga and other sacred subjects, and through close questioning and answering became fully and mutually satisfied that we were fit for each other. So attractive was his society for me, that I stayed over two months with him. It was only at the expiration of this time, and when autumn was setting in that I, with my companions, the Brahmachari and the two ascetics, left Kedar Ghat for other places. We visited Rudra

Prayag and other cities, until we reached the shrine of Agasta Muneo. Further to the north, there is a mountain peak known as the Shivapooree (town of Shiva) where I spent the four months of the cold season ; when, finally parting from the Brahmachari and the two ascetics, I proceeded back to Kedar, this time alone and unimpeded in my intentions, and reached Gupta Kashee.

### Search of Yogis (Clairvoyants)

I stayed but a few days there, and went thence to the Triyungee Narayan shrine, visiting on my way Gowree Koond tank and the cave of Bheemgoopha. Returning in a few days to Kedar, my favourite place of residence, I there finally rested, a number of ascetic Brahmin worshippers—called pandas, and the devotees of the Temple of Kedar of the Jangam sect,—keeping me company until my previous companions, the Brahmachari with his two ascetics, returned. I closely watched their ceremonies and doings, and observed all that was going on with a determined object of learning all that was to be known about these sects. But once that my object was fulfilled, I felt a strong desire to visit the surrounding mountains, with their eternal ice and glaciers, in quest of those true ascetics I had heard of, but as yet had never met them. I was determined, come what might, to ascertain whether some of them did or did not live there as rumoured. But the tremendous difficulties of this mountainous journey and the excessive cold forced me, unhappily, to first make inquiries among the hill tribes and learn what they knew of such men. Everywhere I encountered either a profound ignorance upon the subject or a ridiculous superstition. Having wandered in vain for about twenty days, disheartened I retraced my steps, as lonely as before, my companions who had at first accompanied me, having left me two days after we had started through dread of the great cold. I then ascended the Tunganath Peak. There, I found a temple full of idols and officiating priests, and hastened to descend the peak on the same day. Before me were two paths, one leading west and the other south-west. I chose at random that which led towards the jungle, and ascended it. Soon after, the path led me into a dense jungle with rugged rocks and dried-up waterless brooks. The path stopped abruptly there. Seeing

myself thus arrested, I had to make my choice to either climb up still higher or descend. Reflecting what a height there was to the summit, the tremendous difficulties of climbing that rough and steep hill, and that the night would come before I could ascend it, I concluded that to reach the summit that night was an impossibility. With much difficulty, however, catching at the grass and the bushes, I succeeded in attaining the higher bank of the Nala (the dry brook), and standing on a rock, surveyed the environs. I saw nothing but tormented hillocks, highland, and a dense pathless jungle covering the whole, where no man could pass. Meanwhile the sun was rapidly descending towards the horizon. Darkness would soon set in, and then without water or any means for kindling a fire, what would be my position in the dreary solitude of that jungle!

### Temptation of Priestcraft

By dint of tremendous exertions though, and after an acute suffering from thorns, which tore my clothes to shreds, wounded my whole body, and lamed my feet, I managed to cross the jungle, and at last reached the foot of the hill and found myself on the highway. All was darkness around and over me, and I had to pick my way at random, trying only to keep to the road. Finally I reached a cluster of huts, and learning from the people that that road led to Okhee Math, I directed my steps towards that place, and passed the night there. In the morning, feeling sufficiently rested and refreshed I returned to the Gupta Kashee, whence I started the next day on my northward journey. But that journey attracted me, and soon again I repaired to Okhee Math, under the pretext of examining that hermitage and observing the way of living of its inmates. There I had time to examine at leisure the doings of that famous and rich monastery, so full of pious pretence and a show of asceticism. The high priest (or Chief Hermit), called Mahant, tried hard to induce me to remain and live there with him becoming his disciple. He even held before me the prospect, which he thought quite dazzling, of inheriting some day his lares of rupees, his splendour and power, and finally succeeding him in his Mahantship or supreme rank. I frankly answered him that had I ever craved any such riches or glory, I would not have secretly left the house of my father,

which was not less sumptuous or attractive than his monastery with all its riches. The object, which induced me to do away with all these worldly blessings, I added, "I find you neither strive for, nor possess the knowledge of." He then enquired what was that object for which I so strived. "That object," I answered, "is the secret knowledge, the Vidya, or true erudition of a genuine Yogi the Mooktee, which is reached only by the purity of one's soul, and certain attainments unattainable without it ; in the meanwhile, the performance of all the duties of man towards his fellow-men, and the elevation of humanity thereby." The Mahant remarked that it was very good, and asked me to remain with him for some time at least: But I kept silent and returned no reply : I had not yet found what I sought for. Rising on the following morning very early, I left this rich dwelling and went to Joshee Math. There, in the company of Dakshaneer or Maharashtra Shastrees and Sannyasis, the true ascetics of the 4th Order, I rested for a while.

### Yogis at Joshi Math (Convent)

At Joshee Math I met many Yogis and learned ascetics and, in a series of discussions, learnt more about Yoga-Vidya, and parting with them, went to Badrinarayan. The learned Rawaljee was at that time the chief priest of that temple ; and I lived with him a few days. We held discussions upon the Vedas, and the "Darshanas." Having enquired from him whether he knew of some genuine Yogi in the neighbourhood I learnt, to my great regret, that there were none there at the time, but that he had heard that they were in the habit of visiting his temple at times. Then I resolved to make a thorough search for them throughout the country and especially in the hills,

### Further search of clairvoyants

One morning at day break, I set out on my journey ; when, following along the foot of the mountains, I at last reached the banks of the Alaknanda river. I had no desire of crossing it, as I saw on its opposite bank the large village called "Mana." Keeping, therefore, still to the foot of the hills, I directed my steps towards the jungle, following the river course. The hills and the road itself were thickly covered with snow and, with the greatest difficulty, I succeeded

in reaching that spot where the Alaknanda is said to take its rise. But once there, finding myself surrounded by lofty hills on all sides, and being a stranger in the country, my progress, from that moment, was greatly retarded. Very soon, the road ceased abruptly and I found no vestige of even a path. I was thus at a loss what to do next, but I determined finally to cross the river and enquire for my way. I was poorly and thinly clad, and the cold was intense and soon became intolerable. Feeling hungry and thirsty, I tried to deceive my hunger by swallowing a piece of ice, but found no relief. I then began to ford the river. In some places it was very deep, in others shallow—not deeper than a cubit—but from eight to ten cubits wide. The river-bed was covered with small and fragmentary bits of ice which wounded and cut my naked feet to blood. Very luckily the cold had quite benumbed them, and even large bleeding cracks left me insensible for a while. Slipping on the ice more than once, I lost my footing and came nearly falling down and thus freezing to death on the spot. For, should I have found myself prostrated on the ice, I realized that, benumbed as I was all over, I would find it very difficult to rise again. However, with great exertion, and after a terrible struggle, I managed to get safe enough on the other bank. Once there more dead than alive. I hastened to denude the whole upper part of my body; and, with all I had of clothes on me, to wrap my feet up to the knees and then—exhausted, famished, unable to move. I stood waiting for help, and knowing not whence it would come. At last, throwing a last look around me, I espied two hillmen, who came up and having greeted me with their “Kashisamba” invited me to follow them to their home, where I would find food. Learning my trouble, they, moreover, promised to guide me to “Sadpat” a very sacred place; but I refused their offers, for I could not walk. Notwithstanding their pressing invitation I remained firm and would not “take courage” and follow them as they wanted me; but, after telling them that I would rather die, refused even to listen to them. The idea had struck me that I had better return and prosecute my studies. The two men then left me and soon disappeared among the hills. Having rested, I proceeded on my way back. Stopping for a few minutes at Basudhara, a sacred bathing place, and passing by the neighbourhood of Managram, I reached Badrinarayan at

8 o'clock that evening. Upon seeing me, the Rawaljee and his companions were much astonished and enquired where I had been ever since the early morning. I then sincerely related to them all that had happened to me. That night, after having restored my strength with a little food, I went to bed, but getting up early on the following morn, I took leave of the Rawaljee and set out on my journey back to Rampur. That evening, I reached the home of a hermit, a great ascetic, and passed the night at his place. That man had the reputation of one of the greatest sages living, and I had a long conversation with him upon religious subjects. More fortified than ever in my determination, I left him next morning, and after crossing hills, forests and having descended the Chilikia ghattee, I arrived at last at Rampur where I took up my quarters at the house of the celebrated Ramgiri, so famous for the holiness and purity of his life. I found him a man of extraordinary habits, though. He never slept, but used to pass whole nights in holding conversations—very loud sometimes—apparently with himself. Often, we heard a loud scream, then weeping, though there was no one in his room with him. Extremely surprised, I questioned his disciples and pupils and learnt from them that such was his habit, though no one could tell me what it meant. Seeking an interview with him, I learnt some time after, what it really was; and thus I was enabled to get convinced that it was not true Yoga he practised, but that he was only partially versed in it. It was not what I sought for.

### Books on Yoga and Science

Leaving him I went to Kasipur, and thence to Drona Sagar, where I passed the whole winter. Thence again to Sambal through Moradabad, when, after crossing Gurh Mukteshwar I found myself again on the banks of the Ganges. Besides other religious works. I had with me the "Shiva Sanhita" "Hat-pradipika", "Yoga-Bij" and "Gherand Sanhita", which I used to study during my travels. Some of these, books treated on the Nari chalan and Nari chakras, (nervous system) giving very exhaustive descriptions of the same, which I could never grasp, and which finally made me doubt as to the correctness of these works. I had been for some time trying to remove my doubts, but had found as yet no opportunity. One day, I chanced to meet a corpse floating down the river.

There was the opportunity and it remained with me to satisfy myself as to the correctness of the statements contained in the books about anatomy and man's inner organs. Ridding myself of the books which I laid near by, and taking off my clothes, I resolutely entered the river and soon brought the dead body out and laid it on the shore. I then proceeded to cut it open with a large knife in the best manner I could. I took out and examined the kamal (the heart) and cutting it from the navel to the ribs, and a portion of the head and neck, I carefully examined and compared them with the descriptions in the books. Finding they did not tally at all, I tore the books to pieces and threw them into the river after the corpse. From that time gradually I came to the conclusion that with the exception of the Vedas, Upanishadas, Patanjali and Sankhya, all other works upon science and Yoga were false. Having lingered for some time on the banks of the Ganges, I arrived next at Furrukhabad ; when having passed Sreenjeeram I was just entering Cawnpur by the road east of the cantonment, the samvat year of 1912 (1855 A.C.) was completed.

### Practice of Yoga

During the following five months, I visited many a place between Cawnpur and Allahabad. In the beginning of Bhadrabad, I arrived at Mirzapur where I stopped for a month or so near the shrine of Vindiachal Asooljee ; and arriving at Benares in the early part of Ashwin, I took my quarters in the cave (at the confluence of the Buruna and the Ganges) which then belonged to Bhumanand Saraswati. There, I met with Kakaram, Rajaram and other Sbastrees, but stopped there only twelve days and renewed my travels after what I sought for. It was at the shrine of Durga-Koh in Chandalgurh, where I passed ten days. I left off eating rice altogether, and living but on milk I gave myself up entirely to the study of Yoga which I practised night and day.

### Frauds of Idolatry

Unfortunately, I got this time into the habit of using bhang, a strong narcotic leaf, and at times felt quite intoxicated with its effect. Once after leaving the temple, I came to a small village near Chandalgurh where by chance I met an attendant of mine of former days. On the other side of the village, and at some distance from it stood a Shivalaya (a

temple of Shiva) whither I proceeded to pass the night under its walks. While there under the influence of bhang, I fell fast asleep and dreamt that night a strange dream. I thought I saw Mahadeo and his wife Parvati. They were conversing together and the subject of their talk was myself. Parvati was telling Mahadeo that I ought to get married, but the god did not agree with her. She pointed to the bhang. This dream annoyed me a good deal when I awoke. It was raining and I took shelter in the verandah opposite the chief entrance to the temple, where stood the huge statue of the Bull-god Nandi. Placing my clothes and books on its back, I sat and meditated; when suddenly happening to throw a look inside the statue which was empty, I saw a man concealed inside. I extended my hand towards him, and must have terrified him, as jumping out of his hiding place, he took to his heels in the direction of the village. Then I crept into the statue in my turn and slept there for the rest of the night. In the morning an old woman came and worshipped the Bull-god with myself inside. Later on, she returned with offerings of "Gur" (molasses) and a pot of "Dahi" (curd milk) which, making puja to me (whom she evidently mistook for the god himself), she offered and desired me to accept and eat. I did not disabuse her, but, being hungry, ate it all. The curd being very sour proved a good antidote for the bhang and dispelled the signs of intoxication, which relieved me very much.

### Forests of Nerbuddah

After this adventure, I continued my journey towards the hills and that place where the Nerbuddah takes its rise. I never once asked my way, but went on travelling southward. Soon I found myself in a desolate spot covered thickly with jungles, with isolated huts appearing now and then among the bushes at irregular distances. At one of such places I drank a little milk and proceeded onward. But about half a mile farther, I came to a dead stop. The road had abruptly disappeared and there remained but the choice of narrow paths leading, I knew not, where. I soon entered a dreary jungle of wild plum trees and very thick and huge grass with no signs of any path in it, when suddenly I was faced by a huge black bear. The beast growled ferociously, and, rising on its hind legs, opened wide its mouth to devour me. I stood motionless

for some time and then slowly raised my thin cane over him, and the bear ran away terrified. So loud was its roaring, that the villagers whom I had just left, hearing it, ran to my assistance and soon appeared armed with large sticks and followed by their dogs. They tried hard to persuade me to return with them. If I proceeded any further, they said, I would have to encounter the greatest perils in the jungles which in those hills were the habitat of bears, buffaloes, elephants, tigers and other ferocious beasts. I asked them not to feel anxious for my safety, for I was protected. I was anxious to see the sources of the Nerbuddah and would not change my mind for fear of any peril. Then seeing that their warnings were useless, they left me after having made me accept a stick I immediately threw away.

### Forest Life

On that day I travelled without stopping until it grew quite dusk. For many hours I had not perceived the slightest trace of human habitation around me, no villages in the far off, not even a solitary hut, or a human being. But what my eyes met the most was a number of trees, twisted and broken, which had been uprooted by the wild elephants, and, felled by them to the ground, further on I found myself in a dense and impenetrable jungle of plum trees and other prickly shrubs whence, at first I saw no means of extricating myself. However, partly crawling on the belly, partly creeping on my knees, I conquered this new obstacle and after paying a heavy tribute with pieces of my clothes and even my own skin, bleeding and exhausted I got out of it. It had grown quite dark by that time, but even this—if it impeded did not arrest my progress onward, and I still proceeded, until I found myself entirely hemmed in by lofty rocks and hills thickly grown over with a dense vegetation, but with evident signs of being inhabited. Soon I perceived a few huts, surrounded by heaps of cowdung, a flock of goats grazing on the banks of a small stream of clear water and a few welcome lights glimmering between the crevices of the walls. Resolving to pass the night there, and go no further till the next morning, I took shelter at the foot of a large tree which overshadowed one of the huts. Having washed my bleeding feet, my face and hands in the stream, I had barely sat to tell my prayers, when I was suddenly dis-

turbed in my meditations by the loud sounds of a tom-tom. Shortly after, I saw a procession of men, women and children, followed by their cows and goats emerging from the huts and preparing for a night religious festival. Upon perceiving a stranger, they all gathered around me, and an old man came enquiring from whence I had appeared. I told them I had come from Benares, and was on my pilgrimage to the Nerhudda sources, after which answer they all left me to my prayers and went further on. But in about half hour, came one of their headmen accompanied by two hillmen and sat by my side, He came as a delegate to invite me to their huts. But, as before, I refused the offer (for they were idolators). He then ordered a large fire to be lit near me and appointed two men to watch over my safety the whole night. Learning that I used milk for all food, the kind headmen asked for my "kamandalu" (a bowl) and brought it back to me full of milk, of which I drank a little that night. He then retired, leaving me under the protection of my two guards. That night I soundly slept until dawn, when rising and having completed my devotions, I prepared myself for further events" (Here the autobiography ends.—T)



## अनुसंधान निष्कर्ष

१. इस आत्मचरित्र का उल्लेख बहुत है ।
२. अत्मचरित्र अब तक क्यों नहीं मिला ?
- अंग्रेजी सरकार की कड़ी निगरानी, सन् ५७ के क्रांतिकारियों से सम्बन्ध, अंग्रेजी इतिहास की साक्षी मिलने में बाधक रहो ।
३. थियोसोफिस्ट-आत्मचरित्र से प्रामाणिकता की पुष्टि—  
ऐतिहासिक तथा भौगोलिक स्थिति के आधार पर, आज तक की ऋषि-जीवनियों में तथा अज्ञात जीवनी के मग्नम्, त्रियुगीनारायण, तुंगनाथ, केदारघाट, मानसोद्भेदतीर्थ, अलकापुरी, रामपुर आदि के यात्रा-स्थलों का समान उल्लेख है ।
४. ब्रह्म समाज और आर्यसमाज का संघर्ष भी ऋषि की अज्ञात जीवनी के प्रकाशन में बाधक रहा—
५. श्री पं० दीन बन्धु जी शास्त्री का अध्यवसाय अपूर्व है ।
६. आत्मचरित्र की खोज पर बधाई ।
७. ऋषि ने स्वातन्त्र्य-संग्राम में पूरा भाग लिया ।  
सात्यार्थ प्रकाश की साक्षी, से बाधेर जाति की वीरता का वर्णन, अंग्रेजों की दुर्दशा, बिठूर के मन्दिरों का नाश, थियोसोफिस्ट आत्मचरित्र के अनुसार कान्ति की तिथियों और स्थानों और भाग लेने का पूर्णतः समर्थन है ।
८. नाना साहब महर्षि के सच्चे शिष्य थे—नाना साहब की समाधि का मौरवी में होना ही प्रमाणित करता है ।
९. कुम्भ के मेले पर ऋषि के दर्शन करने वाले वीर-पुंगव थे—  
नाना साहब, महारानी लक्ष्मीबाई, अजीमुल्ला खाँ, बाला साहब तांत्याटोपे, वीरवर कुँवर सिंह मंगल पांडे गंगाबाई ।
१०. आत्मचरित्र की ऐतिहासिकता—

ऋषि बड़ौदा से बनारस गए, थियोसोफिस्ट आत्मचरित्र से तथा अन्य उपलब्ध जीवनियों में भी ऐसा ही सिद्ध होता है ।

११. हिमालय के समस्त पर्वतीय स्थलों का भ्रमण—अर्थात् ऋषिकेश से श्रीनगर,—ले—ऋषिकेश—मानसरोवर, काश्मीर यात्रा कैलाश यात्रा—तिब्बत की जोखिम भरी यात्रा ऋषि ने की ।

१२. सन् ५७ के रक्त कमल और चपाती का ऐतिहासिक रोचक वर्णन है ।

१३. ह० ईसा का भारत में योगाभ्यास ऐतिहासिक है ।

१४. कामाख्या में ५०० ब्राह्मणों बालकों का बलिदान हुआ था ।

॥ ओ३म् ॥

प्रशस्तियाँ

आशंसा

महामना श्री १०८ ब्रह्मानन्दजी आर्य, त्रैदवेदान्ताचार्य (वाराणसी)

ओंकार आश्रम,

मु० चान्दोद (चाणोद कर्णाली),

बड़ोदा ।

ता० २ । १० । ७१ ई०

सनातन-वेद-धर्मनिष्ठ, योगीराज, विद्वद्भार्य्य आर्यशिरोमणि, तपोनिष्ठ

परमप्रेमास्पद श्रीमान् स्वामी श्री सच्चिदानन्द जी महाराज

सरस्वती !

मुकाम चान्दोद, ओंकार आश्रम से स्वामी ब्रह्मानन्द आर्य त्रैदवेदान्ताचार्य का सादर सप्रेम्णा ओं नमो नमस्ते स्वीकृत होवे ।

ईश्वर कृपा से आप वहाँ सकुशल होंगे । आपकी प्रेरणा से भेजा हुए छपे—योगीराज दयानन्द जी का आत्मचरित्र—३६ वर्ष की अज्ञात जीवनी, के सूचना पत्र नगर पोस्ट मार्फत भेजे, सो मुझे मिल गए हैं । इस सूचना पत्र को पढ़कर मुझे बहुत आश्चर्यमय आनन्द हुआ है ।

आपके इस परम उग्र तपोमय पवित्रतम पुरुषार्थ के लिए बहुत बहुत साधुवाद सहित धन्यवाद है । आप बी. पी. द्वारा पूज्य गुरुदेव दयानन्द जी महाराज का आत्मचरित्र जो ३६ वर्ष का अज्ञात जीवन है और सूची में छपे योग द्विपयक सभी पुस्तकें भिजवाने की कृपा कीजियेगा ।.....

आपके सूचना पत्र जो नग ८ यहाँ भेजे हैं मैं उन्हें इधर के आर्य पुरुषों और समाज के मन्त्रियों को दूंगा । आपकी उक्त पुस्तकों की सिफारिश नगरों में यत्र-तत्र करता रहूंगा सो जानना जी ।

ॐ आश्रम स्वामी ब्रह्मानन्द आर्य

## शुभ प्रशस्ति

स्व० डा० आचार्य पं० देवदत्त शर्मापाध्याय एम० ए०

विद्या-भास्कर, वेदान्ताचार्य सं० हि० डि०  
फिल, प्राचीन, नवीन व्याकरणाचार्य,  
वाराणसी, भू० पू० अध्यक्ष—प्राचीन व्याकरण  
दर्शनागम-विभाग, वाराणसेय संस्कृत विश्व  
विद्यालय



महामहिम योगिराज श्री स्वामी सच्चिदानन्द सरस्वती जी महाराज और मैंने प्रातः स्मरणीय महाविद्यालय के कुल पति महर्षि श्री स्वामी शुद्धबोध तीर्थ जी महाराज से वेद व्याकरण साहित्य और दर्शन आदि की उच्च शिक्षा प्राप्त की थी अतएव योगी राज स्वामी जी का वैदिक एवं शास्त्रीय ज्ञान मुक्त कण्ठ से प्रशंसनीय है।

### हिन्दी योग दर्शन

“श्री योगेश्वर महाराज ने यह ‘शुद्ध बोध वृत्ति’ सहित हिन्दी योग दर्शन का निर्माण किया है। वह जनता के लिए अत्यन्त कल्याणकारी है। इसमें स्वामी जी ने अपनी अनुभूतियों के आधार पर योग के सच्चे अर्थ का दिग्दर्शन कराया है। चित्तवृत्ति निरोध से लेकर समाधि पर्यन्त सर्व विषयों का अनुभव सिद्ध उल्लेख है। योग सिद्धियों का मुन्दर सारभूत तथ्य चित्रण है। पता चलता है योगिराज ने अपने जीवन में योग का बहुत अनुभव प्राप्त किया है। सत्य सार खींचकर रख दिया है। ऐसी पुस्तकें ही योग की कठिन से कठिन गुत्थियों को सुलझाने में समर्थ हो सकती हैं।

—ह० देवदत्त शर्मापाध्याय

## मन्त्र योग साधना

योग साधना का अमोघ मन्त्र इसमें दिया गया है। वेदशास्त्र उपनिषद् ब्राह्मण ग्रन्थों के १००० मन्त्रों में इस मन्त्र का विधान बताया है। जप विधि बताई है। संसार के समस्त आस्तिकों ने इस मन्त्र को स्वीकार किया है। यह मन्त्र ही ध्यान योग-का ध्रुव माध्यम है। विधि विधान मनोकामना पूर्ण करने की पूर्ण विधि दी है।

—योगिराज महाराज जी ने योग के इन छोटे-छोटे ग्रंथों में सिद्धांतों की अमूल्य निधियाँ और योग की अद्वितीय निधियाँ निहित कर दी है योग के साधकों को इनका अनवरत स्वाध्याय करना चाहिए। तभी साधक बृन्द का अभ्युदय हो सकता है।

—ह० देवदत्त शर्मोपाध्याय

—१९७०

मूल्य—केवल ६०-००, मन्त्रयोग साधना

८०-०० हिन्दी योग दर्शन

१२५ पातञ्जल योग साधना

—व्यवस्थापक

# ब्रह्मचारी श्री कृष्णदत्त जी की सद्भावना

सिद्ध योगी, द्वापर कालीन  
महर्षि श्रृंगी की अवतीर्णआत्मा अशिक्षित  
संस्कारी जीव श्री ब्रह्मचारी जी



ओ३म्  
योगी श्री स्वामी सच्चिदा-  
नन्द जी महाराज ने जो  
प्री भ्राम करके स्वामी  
दयानन्द जी सरस्वती  
की अज्ञात जीवनी  
छापी है वह महानि-  
य है  
~~कृष्ण दत्त~~ ब्रह्मचारी  
कृष्ण दत्त  
१३-११-७१

॥ ओ३म् ॥

योगी श्री स्वामी सच्चिदा-  
नन्द जी महाराज ने जो परि-  
श्रम करके स्वामी दयानन्द जी  
सरस्वती की अज्ञात जीवनी  
छापी है वह प्रशंसनीय है  
ब्रह्मचारी

कृष्णदत्त

१३ ११ ७१

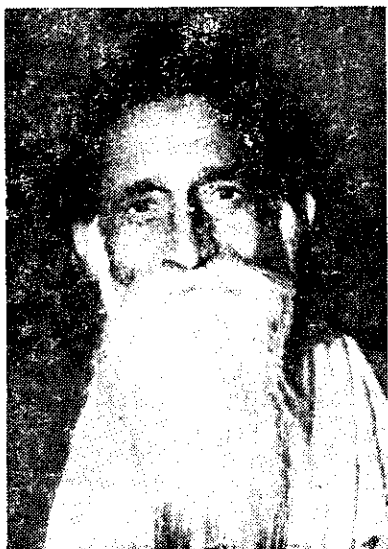
॥ ओ३म् ॥

**पूज्यपाद महात्मा आनन्द भिक्षु जी महाराज का  
योग अभिनन्दन**

श्री महामान्यवर, आदर्श योग निष्ठ, तपोमूर्ति,  
योगिराज श्री स्वामी सच्चिदानन्द जी महाराज !  
सादर नमस्ते !

अत्र कुशलं तत्रास्तु । आप का  
कृपा पत्र मिला । हार्दिक धन्यवाद ।  
अब आपके आज्ञान से मण्डल का  
कल्याण होगा । आप जिस महान् कार्य  
में लगे हुए हैं, उससे हमारा भविष्य  
बनेगा । ..... साधु बिना साधना के नहीं  
बन सकता । आप जैसे निर्भीक साधुओं  
से आर्य समाज का कल्याण होगा ।

समाचार पत्रों द्वारा विदित हुआ,  
आप कर्तारपुर में अध्यात्म शिविर  
लगा रहे हैं । मैं भी श्री चरणों में  
उपस्थित होने का पूर्ण प्रयत्न करूँगा ।  
अभाग्यवश देहली में आपके दर्शन न  
कर सका । ..... जब सौभाग्य उदय  
होगा तो मैं भी आपके चरणों में उप-  
स्थित हो जाऊँगा ।



कृपाभिलाषी

योग्य सेवा से कृतार्थ करें ।

आर्य समाज व्यावर

राजस्थान

२५-६-६६

आनन्द भिक्षु बान प्रस्थ

॥ ओ३म् ॥

लेखक और खोजी का परिश्रम'

श्री १०८ स्वामी विज्ञानानन्दजी सरस्वती

प्रभु की सृष्टि में जीवन सफल उसी का है जो अपने ऊपर कष्ट उठाकर भी दूसरों का कल्याण करते हैं तभी तो कहा है—  
“परोपकाराय सतां विभूतयः ।”

—सज्जन पुरुषों की पहचान ही यही है, कि वह हर हाल काल में उपकार ही करते हैं ।

श्री स्वामी सच्चिदानन्द सरस्वती 'योगी' उनमें से एक हैं । आपको योग की चिरकाल से लग्न थी और उसकी प्राप्ति के लिए अनेकों तद्विषयक ग्रन्थ पढ़े, अनेकों द्वारों का खटखटाया, परन्तु सन्तुष्टि न हुई महर्षि दयानन्द का अनुयायी भला अपनी आत्मिक सत्य-पिपासा को बुझाये बिना कैसे शान्त रह सकता है । फारसी में कहा है—



‘जो इन्दा, पाइन्दा’

—जिन खोजा तिन पाइयां ।

प० दीन बन्धु शास्त्री बी. ए. आचार्य, आर्य समाज, कलकत्ता का बड़ा धन्यवाद है, कि उन्होंने वर्षों की खोज के बाद महर्षि दयानन्द की ३६ वर्ष की अज्ञात, रहस्यपूर्ण जीवनी को खोजकर ‘सार्वदेशिक’ साप्ताहिक पत्रिका में क्रमशः (दो वर्ष में) जनता को भेंट किया । आर्य जगत् को और विशेषकर सार्वदेशिक आर्य प्रतिनिधि सभा को उनकी इस अमूल्य सेवा के लिए अत्यन्त आभार प्रकट करते हुए, उन समस्त लेखों को पुस्तकाकार

कर जनता जनार्दन को महर्षि की अज्ञात जीवनी से कृतकृत्य करना था, परन्तु हमें ज्ञान नहीं कि उपरोक्त आचार्य जी का आभार भी प्रगट किया गया है या नहीं। वगैरा ज्ञान तो है कि सार्वदेशिक के कर्णधारों ने उन लेखों को पुस्तक रूप देने से निषेध कर दिया, और एक आर्य समाज प्रतिनिधि सभा के एक विद्वान् ने यहाँ तक कह दिया कि यह सब कथा मन घडन्त है। उसे नारकीय रूप दिया गया है।

जमाने की तौरों (दो सखी चाल) देखिये, आप करें कुछ न, दूसरा करे तो उसके मार्ग में बाधाएँ खड़ी कर दें, परन्तु धीर वीर विपत्तियों की परवाह नहीं करते हैं, स्वागत करते हैं, उनका स्वागत करते हैं और साथ ही प्रतिकार करते हैं। उनसे जूझकर विजयी होते हैं।

श्री पूज्य स्वामी सच्चिदानन्द योगी ने हमारे साथ निश्चय कर लिया था, कि महर्षि की 'अज्ञात जीवनी' अवश्य छपवानी है। मैंने उन्हें अश्वासन दे रखा था। पुस्तक प्रेस में देने के लिए मेरे पास पहुँच चुकी थी कि उर्दू के साप्ताहिक 'वैदिक धर्म' में उसी आर्य विद्वान् ने 'अज्ञात जीवनी' को असत्य, मन घडन्त और अविश्वसनीय बताया। स्वामी जी ने कलकत्ता में जाकर पुस्तक का मैटर मुझ से मंगवाकर प्रत्येक घटना तथा सत्यता की दर-बदर फिर कर सम्पुष्टि की। बंगला में लिखे पुराने लेख जो श्री ईश्वर चन्द्र विद्यासागर जी श्री केशव चंद्र सेन आदि महानुभावों से प्राप्त किये गये उन के अंशों का फोटो करा लिया। जिन सबका पूरा विवरण तो पुस्तक की पृष्ठभूमि में आपको पढ़ने को मिलेगा।

पुस्तक को बढ़िया कागज पर छपवाने और फिर ५० के लगभग रंगीन चित्र देने, नये डिजाइन बनवाने, ब्लाक बना छपवाने, सुन्दर, सुदृढ़ जुजबन्दी की बढ़िया जिल्द बनवाने में लगभग १५ हजार रुपए की आवश्यकता थी। यह कैसे पूरी हो।

यति के पास अपनी भिक्षा भेंट का ३०००) रु० था। २०००) रु० वान प्रस्थ आश्रम ज्वाला पुर से प्राप्त हुआ। ५०००) रु० लेकर पुस्तक छपवानी आरम्भ कर दी और मात्रल पायी बन कर फल, दुग्ध अन्न का परित्याग कर, अपने योगाभ्यास को भी कमकर पुस्तक के लिए धन की समस्या का समाधान ढूँढने लगे। रोहतक पधारे और मुझ से बातचीत हुई।

जिस कार्य में प्रभु प्रेरणा कार्य कर रही होती है उसके साधन वह स्वयं जुटाता है। वन्दनीय महात्मा आनन्द स्वामी जी महाराज की कथा

आश्रम में हो रही थी। श्री स्वामी सच्चिदानन्द जी भी पधारे ही थे। महात्मा जी ने इस पवित्र कार्य के लिए (१०००) रु० की राशि अपने कोषसे देनी की। मेरे जामात चिरंजीव जगदीश चन्द्रजी डावर तथा पुत्री श्रीमती देव प्रभा जोने (२०००) रु० की राशि, श्री डाक्टर देवराज जी सूरी तथा उनकी सहचारिणी माता लीलावती सूरी ने (१०००) रु० देना किया फुटकर राशि और १०।१० रु० अग्रिममूल्य देकर ग्राहक अनेकों बनने लगे।

अब प्रभु कृपा से यह पुस्तक श्री योगी जी महाराज की ३०० पृष्ठ के गवेषणामय निबंध के साथ शीघ्र छपकर आर्य जनता के हाथों में पहुँच रही है। हमारा विश्वास है कि जो भी आर्य भाई अपने आपको ऋषि दयानन्द का भक्त कहता है और स्वल्प सी भी निष्ठा उनके चरणों में रखता है, वह अपना और संसार का कल्याण तभी कर सकेगा जब स्वयं इस पुस्तक को पढ़ेगा। दूसरों में प्रचार करेगा। वह स्वयं ही लेखक और खोजी के परिश्रम की सराहना करेगा और ऋषिचरणों में सीस झुकाने पर बाधित हो जायेगा।

भगवान् करे हमारा यह अनुमान सत्य सिद्ध हो।

पुस्तक छपवाने की सारी जिम्मेदारी का भार वैदिक भक्ति साधन आश्रम, रोहतक ने अपने ऊपर ले लिया है। प्रभुदेव सहाई हों।

रोहतक

२१-१०-७१

निवेदक

विज्ञानानन्द सरस्वती

## पातञ्जल योग साधना

मूल्य १.२५

महर्षि पतंजलि प्रणीत योगसूत्र और उस पर 'व्यास भाष्य' को परम प्रमाण मानकर प्रस्तुत पुस्तिका में सरल भाषा में योग साधना की क्रियात्मक शैली का उपदेश है। लेखक के अनुसार वृत्तिरहित होना या सबकुछ भगवान् पर छोड़ देना ये ही दो योग की पगडंडियाँ हैं। बिना तप और वैराग्य के योग सिद्ध नहीं होता। योगी रोगी नहीं होता, भोगी योगी नहीं हो सकता योग का गुरु परमात्मा है। अन्ध श्रद्धा वाले योग भक्तों को गुरुडम सेब चने की चेतावनी है आध्यात्मिक जप तप से रोग नाश होता है। प्रचलित प्राणायाम और आस नयोग के लिए अनिवार्य नहीं। व्यावहारिक

और अनुभव सिद्ध विचार हैं । योग तथा प्रेमियों जज्ञासुओं के लिए लाभदायक हैं ।

—हिन्दुस्तान दैनिक ७ जून १९७०

—“प्रस्तुत पुस्तिका श्री पतंजलि मुनि प्रोक्त ‘पातंजल योगसूत्र’ के सिद्धान्तों पर आधारित है । जिनको स्वामी जी महाराज ने स्वानुभव से संकलित करके यहां प्रकाशित किया है ।...पुस्तक संग्रहणीय तथा उपयोगी है । प्रत्येक श्रेयोभिलाषी को अवश्य पढ़नी चाहिए ।”

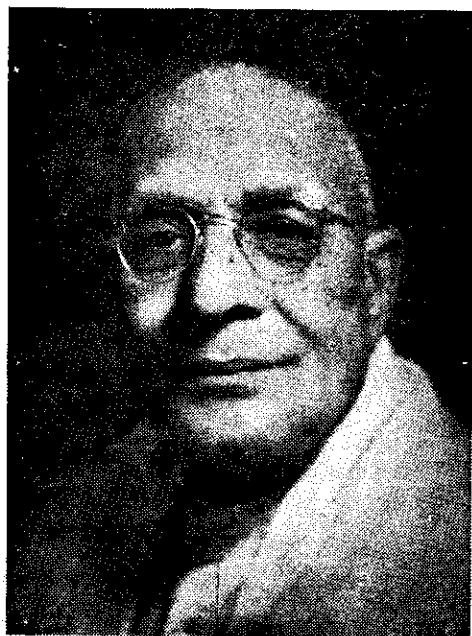
‘लोकालोक’ मासिक

—कमला नगर, देहली, आषाढ़ २०२७,

विश्व विख्यात, विश्वयात्री, विश्व वेदोपदेशक  
श्री श्री महात्मा आनन्द स्वामी जी महाराज के  
हृदयोद्गार

‘दिसम्बर १९७० में जब मैं कलकत्ता गया तो पं० दीन बन्धु जी ने मुझे वह सारी सामग्री दिखाई जिससे महर्षि दयानन्दजी की ‘अज्ञात जीवनी’ का पर्याप्त पता लगता है। दिल्ली लौटकर आने पर मैंने स्वामी सच्चिदानन्द ‘योगी’ सर-स्वती से प्रार्थना की कि आप कलकत्ता पधारिये और सामग्री के विषय में अनुसन्धान करके किसी तथ्य पर पहुँचिये।

स्वामी सच्चिदानन्द जी ने धर्म शास्त्रों का भली भाँति अध्ययन अध्यापन किया है। वे योग मार्ग के अनुभवी पथिक हैं। ऐसे महानुभाव ही परमयोगी दयानन्द की जीवनी के सन्बन्ध में निश्चित बात कह सकते हैं।



उन्होंने कलकत्ता में सवा मास निवास करके उपर्युक्त सामग्री का अनुशीलन किया और एक पुस्तक तैयार की, जिसके तैयार करने में स्वामी

सच्चिदानन्द जीको घोर परिश्रम करना पड़ा। महर्षि स्वामी दयानन्दजी के जीवन की यह गाथाएँ जो अब तक रहस्य में थीं इस आत्मचरित्र के द्वारा प्रगट कर दी गयी हैं।

स्वामी सच्चिदानन्द जी का यह परिश्रम सराहनीय है। निश्चित रूपेण दुनिया के लोग देख सकेंगे कि महर्षि दयानन्द क्या थे? उन्होंने अपना जीवन कितनी तपस्या और योगसाधना से बनाया था। अन्त में 'विदोऽलिखी धनं-भूतम्'

के अनुसार वेद ही को सारी दुनिया की शारीरिक, आत्मिक और सामाजिक उन्नति का ज्ञान बताया।

स्वामी सच्चिदानन्दजी ने जो भूमिका लिखी है उसके अध्ययन से यह प्रतीत होता है कि महर्षि दयानन्द ने स्वातन्त्र्य संग्राम में क्रियात्मक रूप से भाग लिया। वह भूमिका दुनियाँ की आँख खोल देगी। यह भूमिका क्या है? महर्षि दयानन्द के जीवन पर अकाट्य ग्रन्थेष्णा पूर्ण निबन्ध है।

आनन्द स्वामी सरस्वती

११-१०-७१

“श्री स्वामी सच्चिदानन्द सरस्वती योगी चिरकाल से योग साधना में लगे हैं। योग पथ पर चलते हुए उन्हें कितने ही व्यक्तिगत अनुभव हुए हैं और सर्वसाधारण के कल्याण के लिए ही योग सम्बन्धी कितने ही ग्रन्थों की रचना की है। उनमें से—

१. पातञ्जल योग साधना

२. श्री मन्त्र योग साधना

३. हिन्दी योग दर्शन

४. योग दर्शन पर (चार योगेश्वरों के भाष्य का संकलन) प्रेस में—इनमें पातञ्जल योग दर्शन पर चारों योगेश्वरों—(व्यास, दयानन्द, शंकर, भगवान् कृष्ण) का भाष्य-संकलन सबसे महत्वपूर्ण है। गम्भीर है। नई सूक्ष्म-बुद्धि है। नया ग्रन्थेष्ण है। (एक सूत्र भाष्य नमूना)

गम्भीरता से स्वामी जी महाराज ने अनुसन्धान करके योग की घुण्डियाँ खोली हैं। योग पथ पर चलने वालों के लिए इन पुस्तकों का अध्ययन बहुत आवश्यक है।

२७-६-७०

ह० आनन्द स्वामी सरस्वती

विरजानन्द स्मारक  
कतार पुर

कुल पृष्ठ संख्या = १५२ + २२४ = ४६६

३४४



2145